

॥ श्रीहित ॥

श्रीहित नेही नागरीदासजी महाराज कृत

# श्रीहिताष्टक

(व्याख्या सहित)

सम्पादक

रसिकाचार्य श्रीहित राधेशलाल गोस्वामी

**"टिकैत अधिकारी"**

श्रीराधावल्लभ लाल मन्दिर

वृन्दावन - २८११२१

[www.RadhaVallabhMandir.com](http://www.RadhaVallabhMandir.com)



परम आराध्य श्री राधावल्लभलाल जी  
वृन्दावन

श्रीहिताष्टक

मूल -

रसिक हरिवंश सर्वश श्रीराधिका,  
 राधिका सर्वश हरिवंश वंशी ।  
 हरिवंश गुरु शिष्य हरिवंश प्रेमावली,  
 हरिवंश धन धर्म राधा प्रशंसी ॥  
 राधिका देह हरिवंश मन राधिका,  
 राधिका हरिवंश मम श्रुति वतंशी ॥  
 रसिकजन मननि आभरणा हरिवंश हित,  
 हरिवंश आभरण कल हंस हंसी ॥१॥

व्याख्या:-

सर्वप्रथम यह समझना बहुत आवश्यक है कि हितोपासना में रसिक किसे कहें और 'रस' अथवा 'हितरस' का स्वरूप क्या है ? जो रस को गहरे से 'रसिक'। श्रीहित की रचना में श्रीयुगल ही "रसिक सिरमौर" है, "रसिक सिरमौर राधा-रमन जोरी"-श्रीहित चतुराशीजी पद ६७ । प्यारेलाल रसज्ञ है, रस झेलते हैं; यथा श्रीहित सेवकजू महाराज कहें, "सुविधि रसज्ञ"; "जै श्रीहित हरिवंश प्रीति रीति बस, सजनी श्याम कहावै ।" पद ४७। "रहसी रसिक लूटी" पद ८४ । श्रीप्यारी जू "रस-सीवाँ", "रस-सागरी" हैं; रसिक तो हैं परन्तु सेव्य हैं, "आराध्य" हैं और लाल जू "आराधक" हैं, यही निमित्त रहित रस बिलसन का आधार है, दोनों 'रस' के ही बस 'रस' बिलसत हैं, यातें दोनों "रसिक" हैं, "रसिक सिरमौर" हैं; परन्तु जिस 'हितरस' को बिलसै है, उसको स्वरूप क्या है ? हित रस को 'अनन्त' की पदवी है, भाषा की सामर्थ्य नहीं जो 'हितरस' को निरूपण कर सकें क्योंकि भाषा को "सीमित" की दावी है, सो जिसकी क्षमता "सीमिति" है वह अनन्त को ब्यौरे कहाँ से देगो ? अनिर्वचनीय है । "जस बरनत हारै सरस्वती ।" हरिवंश, रसिक सिरमौर युगल, तत्त्वतः 'हित रस' के ही प्रकाश भेद हैं, सो जानियो । सो जो 'अनन्त' है उस के 'जस' को भी अनन्त की पदवी है। सो जो कछु भी "रस एवं रसिक" को समझने के लिय रस के गुणात्मक स्वरूप को लिखत हूँ सोई केवल संकेत मात्र है, जिससे कि भक्तजन 'रस' के गुणात्मक स्वरूप का हृदय में कछुक आधार बना सकें क्योंकि नित्य वृन्दावन में हित रस की प्रकट मूर्ति "रसवपु-रसिक" श्रीयुगल हैं। इसके अतिरिक्त समस्त परिकर वृन्दावन को भी 'रसिक' की पदवी है परन्तु वे "रसवपु" नहीं हैं बस इतना ही अन्तर है । श्रीनागरीदासजी ने बार-बार 'रसिक' शब्द का प्रयोग किया है सो 'रस' अथवा 'हित रस' शब्द का विचार करना उचित है, क्योंकि जो 'रस' अथवा 'हित रस' गहरे, वही "रसिक" । जो रस बिलसै वही "रसिक"। जो रस बिलसै वही "रसिक"। वार्ता को यों समझौ कि यदि गुलाब के फूल का आकार विभिन्न रंग, बनावट, पंखड़ियों की बनावट कोमलता आदि के विषय में किसी को अवगत करवाना होय तो उदाहरण दे कर कछु बतायो जाय सकै, परन्तु जिस किसी ने गुलाब कभी देखा ही न हो, उसे कैसे समझा पावोगे कि गुलाब का "सौरभ" कैसे होय ? समझाना असंभव है, अनुभव गम्य है । ठीक वैसे ही जिस "रस" का हम विचार करने बैठे हैं वह 'हितरस' है, जिसके गुणात्मक स्वरूप का विवेचन तो नेक संकेतात्मक ढंग से किया जाय सकै परन्तु वह "वस्तु" क्या है, उसका परम उज्ज्वल स्वरूप क्या है, तत्त्वतः कैसा है, वह तो "सौरभ" की भाँति अनुभव गम्य ही है, सोई श्रीहरिवंश कृपा साध्य है । "श्रीहित" रसात्मक तत्व है । "श्रीहित" कहो अथवा "हित रस" दोनों शब्द एक ही वस्तु का संकेत करत हैं । इसलिए यों समझो कि "हित रस" ही "रसवपु" धारण करिकै श्रीहरिवंश रूप में प्रगटे, अवतरित हुए; जिन्हें हम व्यवहार में, जगत में, आचार्य में जानि अनुभव करते हैं । श्रीहित अथवा 'हित रस' ही रसवपु धारण करिकै श्यामा-श्यामा के रूप में केलि करत हित बिलसत हैं, दोनों इस 'हितरस' के ही बस

हैं, यथा श्रीसेवक जी महाराज सेवक वाणी जी के सप्तम प्रकरण में कहें, “ नवल-नवल सुख वैन ऐन आपने आपु बस”। सो ऐसो जो यह हितरस है, याको जा गहै-सोड ‘रसिक’ यथार्थ रूप सों । अब यौं समझों कि रसिकाचार्य श्रीहरिवंश, श्री श्यामा-श्यामा तो है ही ‘रस वपु’ सो इस वार्ता को सदा ध्यान रखियों कि ‘रसिक’ शब्द जब कभी भी, जहाँ कहीं भी रसिकाचार्य श्रीहित जू के लिये अथवा श्रीप्रिया-प्रीतम के लिये प्रयोग में आवैगो तहाँ आंतरिक दृष्टि “रसवपु-रसिक” में जाय ठहरैगी, जो रस को गहै रस ही बिलसै ; और बाकी समस्त परिकर जो इस “हितरस” अथवा “हित रस मकरन्द” से अवलंबित है सोड इस रस को गहने वाले “रसिक” हैं, रस रूप है, परन्तु “रसवपु” नहीं है, अस इतनो झीनों मार्मिक के अन्तर है । इसीलिए देखो श्रीहित वृन्दावन दासजी (वाचाजी) महाराज कहै, “वृन्दावन हित रूप ही की विभै स्यामा-स्याम हैं” । “ही” शब्द पै ध्यान दीजौ, इस “ही” शब्द में निश्चयात्मक रूप सों “रसवपु” की व्यञ्जना है । श्रीहरिवंश ! श्रीहरिवंश !

ऊपर कहौ कि ‘हितरस’ अनुभव गम्य है, हित कौ हृदय कमल में प्रकाशित होनो श्रीहितवंश कृपा साध य है । अति संक्षेप में हितरस के गुणात्मक स्वरूप को समझनो । सो यौं समझो हितरस के जो रसिक है वह ‘तत्सुख’ सुखी होये; सो देखों श्रीप्रिया-प्रीतम को एक दूसरे को सुख देइवे कौ ही भजन है सोड श्रीहित चतुराशीजी में तथा श्रीराधासुधानिधि में श्रीहित जू महाराज ने ठौर-ठौर दरसायो । प्रथम पद से ही तत्सुख भाव कौ निरूपण कियौ, “जोई-जोई प्यार करै सोई मोहे भावै”। देखो कैसे अद्भुत प्यारेलाल को तत्सुख भजन है जो भर विहार में कहत है, “बिरमि-बिरमि नाथ वदत वर विहार री” पद-७६। श्रीकिशोरीजी के तत्सुख भजन कौ तो कोड पायावार ही नहीं है, देखो कैसे ठौर-ठौर तत्सुख भजन है, जै श्रीहित हरिवंश चली अति आतुन श्रवण सुनत तिहीं काल । लै राखे बिरि-कुच बिच सुन्दर सुरत-सूर ब्रजवाल” पद-३८ । “नागरी निरखि मदन विष व्यापत दियो सुधाधर धीर”, “जै श्रीहित हरिवंश भुजन आकर्षे लै राखे उर माँझ” पद-६६ । ऐसे बहुत कहौ है, पद-पद प्रति तत्सुख भाव छलवयो परम है । हित रस के रसिकों में यह तत्सुख भाव इतनो उज्ज्वल स्थिति में रहै कि निरूपद करनो ही कठिन पड़ जाय है । तीन-त्रिलोकी में तो यह ‘तत्सुख’ भाव कहीं देखने को भी मिलैगी नहीं, स्वामी सेवक भाव सों सब बंधे भजन करत हैं, परन्तु हौं ब्रज में श्रीकृष्णावतार में ठाकुर से बराबरी कौ भाव है, सो केवल यहाँ “तत्सुख” भाव की झलक सी देखने को मिले है, पूर्ण रूप सों नहीं, वयों यहाँ भी मिश्रित रस है । याही तें श्रीसेवकजू महाराज ने ठोक बजाइ के अष्टम् प्रकरण में कहौ, “देखे जु में अवतार सबै भजि तहाँ-तहाँ तन तैसो न जाई । गोकुल नाथ महा ब्रज-वैभव, लीला अनेक न चित खटाई ॥” कोमलता, वाह, सरसता इत्यादि गुणों से यह तत्सुख भाव स्थाई रूप सों अलंकृत रहै; मधुरता, मादकता आदि इसभाव में गर्भित हैं । ऐश्वर्य, महातम आदि की कही लेशमात्र गन्ध भी नहीं है । निकुंज में परम उज्ज्वल तत्सुख भाव सब ठाँव जगमगाय है ।

दूसरे विचार करने योग्य वार्ता है ‘हितरस’ कौ सहज “निमित्त रहित” गुण । यह गुण हित बिलसन निकुंज केलि में, सखियों की टहल में, स्थाई रूप सों दरसै, सखियों को भी तो रसिक की पदवी है सो जानियों । श्रीश्यामा-श्याम की परस्पर की प्रीति, स्नेह सब ठाँव निमित्त रहित है । श्रीप्रिया जू शृंगार भी करै है तो प्यारेलाल को सुख देइवे को, अपने निजिज सुख निमित्त नहीं । देखो कैसे सुंदर झीनो भाव है-बयालीस लीला में श्रीध्रुवदासजी महाराज कहै, “परी है कठिन अति नवल किशोरी जू कौ छिन छिन नई छवि कहाँ लौ छिपाव ही । जोई अंग प्रीतम की दीठ सों परम होत, नीरज से नैना नीर भरि भरि आवही । हित ध्रुव अधिक वितस भये जात पिय ताही हेत सुकुमारी जतन बनावही । और अंग राखे पट भूषननि में दुराइ लोचन चपल चल कहे में न आवही ॥” पुनः कहै, “जामें नाहिं निमित्त कछु, सो अभंग अनुराग ।” और देखिये-ऐसे ही प्रथम शृंगार लीला में कहै, “छवि के छिपाइवे को रस के बढ़ाइवे कौ, अंग-अंग भूषण बनाये है बनाइकै ।.....हित ध्रुव वितस लटक जात छिन-छिन, यातें सखी शोभा सब राखी है दुराइ कै ॥” सो देखिये कैसे निमित्त रहित तत्सुख की व्यञ्जना है । शृंगार भी कियौ तो इसलिये नहीं की शृंगार में सौंदर्य और बढ़ जाय यह तो “बिन

भूषण ब्रज गोरी" है । शृंगार कियौ तो लाल को संभारने को अपने निमित्त कछु नहीं है ।

इसी प्रकार इनकी केलि विलास भी सहज विलास करै तो हित ही विलसत है अपने निमित्त स्वार्थ की कही गन्ध भी नहीं है, कोई कामना पूरति कौ उद्देश्य नहीं है । याई तें श्रीसेवकजू महाराज ने सेवकवाणीजी के सप्तम प्रकरण में श्रीजी के लिये कह्यौ "सहजानंदनी कादम्बिन" । अपार विस्तार हैं अति संक्षेप में कछुक कह्यौ ।

तीसरे यौ जानो कि हित रस अनादि हैं, परम उज्ज्वल हैं, सूक्ष्म हैं । कहीं भी जड़ता या स्थूलता कौ स्पर्श मात्र भी नहीं है, हितानंद के रूप में प्रकाशित होय है; सम्पूर्ण है; गंभीर भी है और क्रीड़ा परायण भी परन्तु स्वभाव क्रीड़ा परायण है । हिरस की विलसन एकरस है, अखंड मिलन है, केवल माधुर्य है । श्रीध्रुवदासजी महाराज कह्यै, "अमित कोटि जुग कल्प लौ राखे उरजन माहि । ते सव लव त्रिस रेनु सम बीतत जाने नाहिं ॥" एक ही दोहा में अनादि एकरस हित की विलसन पै मोहर लगा दीनी है ।

चौथे यौ जानियों कि हित की विलसन दो प्रकार सों है । एक तो जब श्रीश्यामा-श्याम नित्य विहार करै जहाँ रस-विलास, रति-विलास आदि हैं, केलि हैं; दूसरे जब परस्पर रूप माधुरी को विलसै । तहाँ श्रीजी की वाणी, "अंसनि पर भुज दिये विलोकत इन्दु वदन विवि ओर । करत पान रस मत्त परस्पर लोचन तृषित चकोर ॥" पद-३१ । श्रीसेवकजू महाराज ने सेवकवाणीजी के चतुर्थ प्रकरण में भाव कौ विस्तार कियौ, "अंसनि पर भुज दिये विलोकत । तृषित न सुंदर मुख अवलोकत ॥ इन्दुवदन दीसत विवि ओर । चारु सुलोचन तृषित चकोर ॥" इत्यादि । इसके अतिरिक्त रस-विलास, रति-विलास केलि के तो अनेकों पद रभित चतुराशीजी में है सोइ देखनो । विशेषकर सेवकजी महाराज ने दोनों प्रकार की विलसन कौ सूत्र रूप विलसन सप्तम प्रकरण (सेवकवाणीजी) में कियो है सोइ समझकै उर धारण करनो सुखदाई है । इसके अतिरिक्त दशम प्रकरण में भी रस-विलास रति-विलास की कुंडिलियाँ हैं सोइ देखनो ।

सो यदि रसिक शब्द के गुणात्मक स्वरूप को नेक हृदय में धारण करि लियो होय तो इतनो और समझो कि हित रस के रसिकों को ही यथार्थ रसिक की पदवी है। यथार्थ रूप सों रसिक कहाइवे के प्रमाण पत्र सों अलंकृत करने योग्य येई है । बाकी जो भी हैं, जो कछु हैं वे सब अपने-अपने रस में उलझे सकामता, स्वार्थ, नेम ऐश्वर्य, महात्म्य, ज्ञान, विधि निषेध, कुलकर्म, निगम-आगम की मर्यादा, व्यवहार, योग, ध्यान, समाधी और न जाने कैसे-कैसे जंजारो को लिये चलत हैं, परन्तु फिर भी अपने को रसिक कहाय कौ भड़भागी मानत हैं । सबसे बड़ों निर्गुणियाँ तो वेद ही हैं सो बहुत जोर लगायो तो "शान्तरस" की पदवी पाय कौ समझोतो करि लियो याते आगे बस न चल्यौ । जब वेद की रियाँ ही सकामता ग्रस्त भई जो ट्वापर में गोपियाँ बनी तो न तो 'रस' ही विशुद्ध रह्यो और न ही इस रस को गहने वाले यथार्थ रूप सों 'रसिक' रहे। क्योंकि सकामता आप को अंश आन मिल्यो सो उज्ज्वलता नष्ट भई । जब भेदों की ठौर यह स्थिति है तो ओरों की क्या कहिये ? हमें इन सबसे क्या लेनो-देनो है ? महाराज आप सब वंदनीय हो, हमें किसी से कोई रग-द्वेष नहीं क्योंकि 'हित' सर्वव्यापक तत्व है, सब ठौर 'हित' को समन्वय है सब विश्व में हित भरपूर है, आत्मा जिसे तुम अनादि कहो वह 'हित' ही है तो बताओ द्वेष करें तो किससे, क्योंकर करै ? परन्तु महाराज हम आपके पथ का अनुसरण नहीं कर सकते क्योंकि हम तो "हितरस" को गहने वालों में से हैं, सोई श्रीसेवकजू महाराज ने नवम् प्रकरण में ठोक बजाइ के कह्यो, "सब जीवनि सों प्रीति, रीति निबाहत आपनी । श्रवण कथन परतीति, यह जु कृपा हरिवंश की ॥" सो महाराज हम तो सेवक मत चले चलत हैं, हमारे प्राणधन तो श्रीहरिवंश हैं, इन्हीं कौ दियो "रस" यथार्थ "रस" है, हम तो उसी हितरस से अवलंबित रसिक हैं, अपनी आप जानौ । श्रीहरिवंश! श्रीहरिवंश!!

सो श्रीनागरीदास महाराज कहते, “रसिक हरिवंश सर्वश श्रीराधिका” कहने को तात्पर्य है कि श्रीधाम नित्य वृन्दावन में जितने भी “रसिक” श्रीललितादि सखियाँ तथा श्रीहरिवंश जो नित्यधाम में “हितसखी” के रूप में रहें, तत्त्वतः संधि रूप से श्रीश्यामा-श्याम के बीच रहें, तथा जो वंशीजी के रूप में लाल जू के अधरों पै लगी रहें, इन सब के रसवंश श्रीराधिका हैं। सरवंश कहिये सर्वस्व। सो केवल नित्यधाम में ही यह स्थिति नहीं है, यहाँ भूतल पर भी जितने भी “हिरस” के “रसिक” हैं उन सबकी भी सर्वश श्रीराधिका हैं, तथा आचार्य रूप में रसावतार जो श्रीहितजू महाराज अवतरित हुए उनकी भी सर्वश श्रीराधिका हैं, यथा श्रीसेवकवाणीजी, “श्रीराधा युग चरण निवास”। अर्थात् अनादि काल सों श्रीहित को विश्राम श्रीराधाचरण में है। श्रीराधा हित रसवपु है, आराध्य है, श्रीलालजू भी ‘हित रसवपु’ परन्तु नित्य विहार में ये भी श्रीराधा को आराधत है यद्यपि दोनों में रस समतूल है। कहीं भी लेशमात्र भी घट-बढ़ नहीं है। ‘श्रीहित’ स्वभाव सों क्रीड़ा परायण है, सो रसास्वादन हेत स्वयं ही ‘हिरस’ एक से दो भयो, एक गौर तेज रसवपु श्रीराधा और दूसरे श्यामल तेज रसवपु श्रीश्याम। इन दोनों तेज की मिश्रित द्युति, तेज ही रसात्मक तत्व “श्रीहित” है। विलसन के हेत एक राध्य भयो तो दूसरै ध्येय वयोंकि दो बिन विलसनो होय नहीं। यह श्रीहित की रचना कौ वमत्कार है, सारी हितोपासना कौ सार पुंजीभूत है कि हिरस स्वयं रसस्वादन हेत “रससार” स्वरूप होय श्रीराधा के हृदय कमल में विराजै हैं, और लालजू भंवरे की वृत्ति सों उसी “रससार” कौ पान करने की कामना करत है, पान करते हैं। यही वार्ता मैने श्रीसेवकवाणीजी की व्याख्या करते पंचम प्रकरण में कही रही सो यहाँ प्रसंग अनुसार उसे दौहरायौ है। सो ऐसे नित्य धाम के रसिक एवं इस भूतल के हिरस के रसिको की सरवंश श्रीराधिका हैं वयोंकि श्रीहित कि रचना में श्रीराधा ही आराध्या है इसीलिए श्रीहरिवंश महाप्रभुजी ने आचार्य रूप में प्रगट होकर, अवतरित होकर; यहाँ जो निकुंज रस कौ रसस्वादन करवायौ उसमें भी निकुंज का अनुसरण करते हुए “प्रधानता” श्रीराधा की रखी। सो “रसिक” तथा “रसिक-रसवपु” हरिवंश कहे दोनो की सरवंश ‘आराध्य’ श्रीराधा है यथा “छिन-छिन प्रति आराधत रह ही, राधा नाम श्याम तब कह ही”। -सेवकवाणी ॥इति ॥

भूतल के रसिक कहीं भटक नहीं जाएँ यह वाक्य सुनकर कि “रसिक हरिवंश सर्वश श्रीराधिका” श्रीनेही नागरीदासजी महाराज ने तुरन्त ही साथ जोड़ दियो “रसिका सर्वश हरिवंश वंशी”। भूतल पर तो ‘श्रीहित’ रसवपु धारण करि आचार्य हरिवंश रूप में अवतरित हुए, सो उनकी सरवंश तो श्रीराधिका हैं सोइ निकुंज भाव को श्रीसेवकजू महाराज ने श्रीसेवकवाणीजी में “श्रीराधा युग चरण निवास” कहि-करि पुष्ट कियौ। परन्तु निकुंज में तो हित जू महाराज ‘हित सखी’ वंशी रूप में विराजै हैं। सोइ श्रीनागरीदासजी महाराज यहाँ पुष्ट करते हैं कि निकुंज में जो हितरूप वंशी जी विराजै है सोइ यहाँ आचार्य रूप में श्रीहरिवंश हवै अवतरित भये हैं सो जानियो। हरिवंश और वंशी अभेद करि दिखायो, सोइ श्रीहित किशोरीलालजी महाराज अपनी एक बधाई में कहत है, “प्रगटी भुव वंशी प्रीतम की, सुफल भये मन काम”। ऐसे ही श्रीचतुरशिरोमणिलालजी महाराज कहै “जै-जै श्रीहितवंश वंशि वपु सोहनौ।” श्रीवृन्दावनदासजी महाराज (वाचाजी) कहै, “जै-जै जगत प्रशंस नवल की बाँसुरी। सो प्रगटी भुवलोक कहन जुग गाँसुरी।” सो ऐसे महापुरुषों ने बहुत कह्यो हैं, प्रमाणित है कि निकुंज में श्रीवंशजी जो श्रीलालजू के अधरों पै रहै वही श्रीहिताचार्य रूप में भुव प्रगट भई।

सो ऐसे श्रीहिताचार्य श्रीहरिवंश महाप्रभुजी कहे अथवा वंशी जी निकुंज में। वे राधिका के सरवंश हैं। निकुंज में तो ‘श्रीहित’ के ही रसवपु श्रीप्रिया-प्रीतम हैं। ‘श्रीहित रस’ ही निमित्त रहित बिलसत है ‘हित रस’ के ही बस है, सो वहाँ तो सहज में ही श्रीराधा के सरवंश श्रीहित, अथवा जिन्हें हम भूतल पर श्रीहरिवंश रूप में जानें वे ही सर्वस्व भये इसमें तो कहीं संदेह नहीं। परन्तु श्रीहित सगरी वार्ता में श्रीलालजू को मती भूल जडयो, उनके भी सर्वश “श्रीहित” अथवा श्रीहरिवंश ही है। वयोंकि वे भी श्रीहित रसवपु ही तो हैं, परन्तु श्रीहित की रचना में वे “ध्येय” है “आराधक” है श्रीराधा की निकुंज में आराधना करत है इसलिए बार-बार “श्रीराधिका”

का वर्णन है। श्रीराधा हित रस वपु है और "श्रीहित" रस मार रस सार होय श्रीराधिका के हृदय कमल में विराजे है बस इतने में ही श्रीराधा उपास्य तत्त्व है निकुंज में। यह बानक तो निकुंज में हिरस माधुरी बिलसने के हेत है अब देखिये भूतल पर निकुंज के श्रीप्रिया-प्रियतम को 'श्रीविग्रह' श्रीराधावल्लभलाल है, जो परस्पर गलबडैया दिये विराजत है एक प्राण दो देह निकुंज में; सो यहाँ दोनों मिलि एक भये, श्रीराधावल्लभलाल। ऐसो क्यों ? यहाँ दो देह क्यों नहीं ? इसलिए कि वही भूतल के रसिक भटक न जाये दो देह देख करि। कही इन्हें एक प्राण ना समझने की भूल न कर बैठें, "श्रीहित" के एकत्व को ना समझने की भूल न कर बैठें, "श्रीहित" के एकत्व को ना समझने की भूल न कर बैठें। पूरे भारतवर्ष में जहाँ भी श्रीकृष्ण का पृथक् विग्रह है सो यहाँ भी प्रथक विग्रह देखकर, रसिक; निकुंज भाव से विमुख न हो जायें। पृथक् विग्रह होते ही यहाँ के रसिकों में सैकड़ों सन्देह युक्त प्रश्न उठते, सैकड़ों शंकाएँ मन में उठती जिनका निवारण करना बहुत कठिन हो जाता। सो इन सब कठिनाईयों से निपटने को निकुंज के श्रीप्रिया-प्रियतम सहज में ही गलबडियाँ दीये, एक भये श्रीविग्रह रूप में श्रीराधावल्लभलाल होय विराजे है सो समझनौ। सो यहाँ जैसे निकुंज में श्रीप्रिया-प्रियतम के सर्वश "श्रीहित-वंशी" है, ठीक वैसे ही यहाँ श्रीराधावल्लभलाल के सर्वश श्रीहरिवंश है। जो भाव निकुंज में है उसी भव को सांगोपांग अनुसरण यहाँ भूतल पर प्रगट सेवा में है। श्रीराधिका के सर्वश श्रीहरिवंश है इस भूतल पर, याही ते श्रीनागरीदासजी महाराज कहै, "हरिवंश वंशी"। वंशी और हरिवंश अभेद जानियों। अभी भी यदि मन में कछु शंका बाकी है तो इतने में ही समझ लेवें की साक्षात् श्रीराधिकावता श्रीसतेकजू महाराज जब इस भूतल पर अवतरित हुए तो उन्होंने कौन को गायौ ? निकुंज में उनकी सर्वश जो "श्रीहितवंशीजी" सोइ यहाँ भूतल पर श्रीहरिवंश उनको गायौ, न कि श्री राधावल्लभलाल को। निकुंज में जिस "श्रीहित" को दोनों आराधत है जिस हित को दोनों श्रीप्रिया-प्रियतम विलसत है उसी हितवंशी हितावतार श्रीहरिवंश को यहाँ सर्वश जानि राधिका सेवक वपु धरि करि आराधत भई। इससे अधिक मेरे पास तो और कुछ कहने को नहीं यदि समझ गये हो तो आगे की वार्ता भी समझ सकोगे, क्योंकि आगे की वार्ता समझने को आधार यह प्रथम पंक्ति है, इतनौ ही नहीं अष्टक की प्रत्येक पंक्ति को नेक विस्तार सो कछुक कह्यो। समुद्र को सीप में भरने मात्र है; कौन भरि सकै ? कौन की सामर्थ्य है ? परन्तु क्या कियो जाय: मुझ जैसे अर्धमुख व्याख्या करने बैठो है (पूर्ण मुख तो नहीं हूँ क्योंकि हरिवंश चरण आश्रित हूँ) सो जैसे जैसे भाव आते जाँ बोलतो जाय लिखतो जाय। जहाँ श्रीजी लेखनी रोक दें वही रुक जाय। श्रीहरिवंश ! श्रीहरिवंश !!

प्रथम पंक्ति में श्रीहरिवंश और वंशी को अभेद दरसाय कै श्रीहरिवंश और श्रीराधिका को एक दूसरे के सर्वश कहि करि निकुंज में और इस भूतल पर 'हित एकत्व' को सूत्र रूप में समझाय के कह्यो। इतने में ही समझ के दाररे में सगरी वार्ता आ जाती तो कदाचित् दूसरी पंक्ति की आवश्यक ही नहीं रहती परन्तु कछुक विशेष रूप सो और कहनो रह्यो सो द्वितीय पंक्ति में कहै, "हरिवंश गुरु शिष्य हरिवंश प्रेमावली, हरिवंश धन धर्म राधा प्रशंसी।" हरिवंश निकुंज में "हित सखी" है, वंशी स्वरूप है श्रीप्रिय-प्रियतम के बीच संधि स्वरूप है इन तीनों स्वरूपों में ये श्रीराधिका के गुरु भी है और शिष्य भी है। सो देखिये जब श्रीप्रिया-प्रियतम, हित रस वपु हित ही बिलसै, हित ही आराधत है तो सहज में ही इनके गुरु भये, क्योंकि आराधना तो गुरु की ही करी जाय परन्तु देखो कैसी अद्भुतता है कैसे विचित्र गुरु है कैसो अद्वितीय गुरु-शिष्य कौ संबंध है कि जहाँ शिष्य श्रीप्रिया-प्रियतम ने हित बिलसनो आरम्भ कियौ कि ये श्रीहित रसास्वदन हेत "सखी" भए शिष्य हो जाय है; श्रीलालजू, वंशी को अधरों पै धरि जैसे बजाएँ ये शिष्य रूप भए वैसे ही बजत है। वंशी में श्रीलालजी राधा-राधा टेरत है, राधा-राधा आराधत है तो "श्रीहित" ही स्वरो की भाषा में राधा-राधा आराधत है, ऐसो आराधत है कि रस के प्रवाह कौ पायावतार रहै नहीं। यही "प्रेम की अवली" है, अवली माला कौ कहै। एक ही माला में गुरु, शिष्य दोनों गुथे है है। जहाँ श्रीराधिका शिष्य भी है तो गुरु भी। कैसो अद्भुत, विलक्षण, अद्वितीय "प्रेम" कौ स्वरूप है निकुंज में, जहाँ न कोई गुरु है न कोई शिष्य बस एकमात्र "रस" कौ स्थाई रूपसो



परम आराध्य श्री यथाबलभलाल जी  
वृन्दावन



साम्राज्य है, बस एक उद्देश्य है, 'रस' की विलसन जहाँ सबकौ निजी निमित्य रहित एक रस हित को बिलसनौ है, बस इसी उद्देश्य की पूर्ति में गुरु शिष्य की पदवी परस्पर बदलती रहै । विचार करि देखो, है कही तीन त्रिलोकी में ऐसी प्रेमावली? झलक भी देखने को नसीब नहीं होगी ।

यहाँ तक तो रही निकुंज की वार्ता । अब इस भूतल पर 'वंशीजी' रसिकाचार्य महाप्रभु श्रीहरिवंश रूप में प्रगटी तो निकुंज रसमाधुरी, गोप्य रस रीति भक्त जन को देने कौ उद्देश्य रह्यौ, सो निकुंज की रस-रीति ही यहाँ भी प्रगट भई । सो देखो श्रीहितावतार श्रीहरिवंश महाप्रभुजी सब रसिकनि के मुख्य गुरु हैं, श्रीराधिका सेवक वपु धरि उनसों मंत्र पायो, शिष्य भई "हरिवंश चरण शरण" गायो, शपथ करी "जो हरिवंश तजौ औरहि तो मोहे श्रीहरिवंश दुहाई"। अपने गुरु "श्रीहित" के निर्मल यश कौ यशोगान कियौ । यहाँ तक तो गुरु हरिवंश की महिमा कही, अब सुनो हरिवंश शिष्य कैसे भए । प्रसिद्ध प्रमाण है कि श्रीहित हरिवंशजू को निज मंत्र श्रीराजू ने स्वप्न में दियौ । श्रीराधावल्लभलाल जो निकुंज के ही श्रीप्रिया-प्रियतम के श्रीविग्रह हैं उन्हें पधरायो, निकुंज की सेवा टहल कौ अनुसरण करत यहाँ अष्टयाम सेवा पद्धति स्थापित करि भक्तजन को दुर्लभ निकुंज रस मुरारी को पान करवाये । कैसे ? श्रीहित चतुराशीजी एवं श्रीराधासुधानिधि में अपे गुरु "श्रीराधिका" कौ निर्मल यशोगान करिकै सो देखो जो प्रेमावली निकुंज में अर्थात् जो रस रीति निकुंज में है उसी कौ अनुसरण यहाँ इस भूतल पर भयौ । सिद्धान्त कौ सांगोपांग अनुसरण है, केवल प्रकाश भेद के कारण हमारी अल्प बुद्धि समझने में असमर्थ हो जाती है, सोइ श्रीहित नेही नागरीदासजी महाराज ने यहाँ कृपा करि खोल दियो जिससे कि भक्तों की बुद्धि में लगे जाले साफ हो जाँ । इस अद्भुत प्रेमावली को समझने से ही हित कौ स्वरूप समझोगे। श्रीहरिवंश-चरणाश्रित होकर श्रीहरिवंश महाप्रभुजी कौ धर्म क्या है, धर्मी कौन हैं यदि यह समझनौ हो तो यौ जानियों कि यह प्रेमावली ही धर्म है इस अवली के सब मनका ही धर्मी है । इन मनका रूपी धर्मियों से ही प्रेमावली रूपी धर्म जगमगा रह्यो है । जो धर्म है वह धर्मी है जो धर्मी है वही धर्म है एक बिना दूसरे की स्थिति नहीं है । धर्म और धर्मी एक इकाई भये विराजत हैं सोइ श्रीसेवकवाणीजी के त्रयोदश प्रकरण में श्रीसेवकजू महाराज ने स्पष्ट कियौ, "धर्मी बिनु नहीं धर्म, नहीं धर्म बिनु धर्मीय । श्रीहरिवंश प्रताप मर्म जानौ जे मर्मीय । सं.२०५६, वि. में मैने श्रीसेवक वाणीजी की व्याख्या करि रही सो तहाँ विस्तार करने संभव नहीं । सो इतनो समझाय के कहने के पश्चात् अब श्रीनागरीदासजी महाराज कहें, "हरिवंश धन धर्म यथा प्रशंसी"। कहने को तात्पर्य है कि निकुंज में हरिवंश कौ धन श्रीश्यामा-श्याम है । यहाँ धन कौ अर्थ "जीवन-सर्वस्व" से है जो कौ अर्थ "जीवन-सर्वस्व" से है जो कोश स्वीकृत अर्थ है । लौकिक अर्थ में उलझने से रसाभस होय । सो ऐसे जो हरिवंश के जीवन सर्वस्व श्रीप्रिया-प्रियतम हैं उस सपदा के धनी भी श्रीहरिवंश हैं जो जानियों । इसीलिने महापुरुषों ने ठौर-ठौर कह्यो है कि श्रीहरिवंश भजन , हितोपासना; श्रीहरिवंश कृपा साध्य है,, साधन साध्य नहीं है । श्रीहितवंश को यह 'धन', धर्म भी है और धर्मी इस धन के धनी श्रीहरिवंश हैं,। सो, श्रीहरिवंश कौ यह धन श्रीहरिवंश को धर्म है और येई धर्मी हैं सोई पूर्व खेल के कहे आए हैं । "श्रीहरिवंश चरण उर धरई। तब या रस में मन अनुसरई ॥"

श्रीहित की इस रचना में श्रीहित ने प्रधानता श्रीराधा की राखी है सोई पूर्व विस्तार सों कहे आये हैं। "यथा प्रशंसी" कह्यो । प्रशंसी यानि प्रशंसना (सं. प्रशंसन) गुणकथन। कहने का तात्पर्य है कि हरिवंश धर्म में प्रधानता श्रीराधा की है (श्रीराधा युग चरण निवास) सो गुणकथन में भी प्रधानता श्रीराधा की है, इन्हें ही दुलरायौ है है । इति ।

इनही पंक्तियों के भाव को और खोलते हैं। विस्तार करते हुए कहत हैं, "राधिक देह हरिवंश मन राधि का।" श्रीराधिका की और मन दोनों ही हरिवंश हैं । देह हरिवंश कह्यो सो तो सहज में ही जानयौ परै है जो पूर्व कह्यौ श्रीराधा श्रीहित रसवपु है । प्राकृत देह के गुण तो हैं नहील सो मन भी हित ही के गुणों से संवलि

है । सहज में यों समझो जो श्रीहित रस तपु होणो उसमें सगरे गुण, सगरी मनोवृत्तियाँ भी तो हितरस कौ अनुसरण करैगी। श्रीहित स्वभाव सों क्रीड़ापरायण है तो ये भी केलि में अनुरक्त रहै, श्रीहित गंभीर भी है सो ये भी क्रीड़ा करत, हित बिलसत रस में बूड़े गहर में जाय परै तहाँ से इन्हें निकासबे की सामर्थ्य भी केवल “हित सजनी” की ही है, स्थाई रूप सों विराजमान ‘मदन’ भी निर्जित हो जाय है । “श्रीहित” तत्सुख सुखी है तो इनमें भी यही गुण है ‘श्रीहित’ अनादि तत्व है, ते इनकी क्रीड़ा भी अनादि काल सों हो रही, निमित्त रहित हित ही बिलसत है इत्यादि, इत्यादि; सों सब प्रकार सों “मन” हितमय है ।

अब रही बात “अवली” की सो सब ठाँव है । यदि श्रीराधिका की देह और मन हरिवंश है अर्थात् हित रसतपु देह और हित ही के गुण इन्हें सेवत है । जो स्थिति निकुंज में है सोड यहाँ इस भूतल पर है प्रकाश भेद अंतरान्त निकुंज के श्रीहित, हित सखी अथवा वंशी कौ अनुभव यहाँ रसावतार हिताचार्य श्रीहित हरिवंश महाप्रभुजी के रूप में होय है और निकुंज के प्रिया-प्रीतम श्रीहित श्रीराधावल्लभलाल श्रीविग्रह रूप में विराजे है जो साक्षात् प्रत्यक्ष है, इन्हें मूर्ति कहनो अथवा समझनो राधावल्लभियों के लिए अपराध है विजातियों की नासमझी है । इति ।

अब श्रीहित नेही नागरीदासजी महाराज अपनी निष्ठा को व्यक्त करत कहै, “राधिका हरिवंश मम श्रुति वतंशी ।” सहज में यों समझो कि कह रहै कि राधिका और हरिवंश की यह “प्रेमावली” मेरे कानों के आभूषण है, कहने कौ तात्पर्य है इन दोनों का निर्मल यश में अपने कानों द्वारा श्रवण करूँ हूँ अर्थात् कानों द्वारा श्रवण करने योग्य इनही कौ सर्वश्रेष्ठ निर्मल यश है । इति।

### रसिक जन मननि आभरण हरिवंश हित । हरिवंश आभरण कल हंस, हंसी ॥

रसिकजन बहुवचन पद है। सो यहाँ तात्पर्य रसतपु-रसिक श्रीयुगल तथा निकुंज की श्रीललितादि सखियाँ जो परम रसिक तथा वे रसिक जो इस भूतल पर श्रीहरिवंश चरण आश्रित होकर हितरस गहै, सारांश में रसिक अनन्य से तात्पर्य है। सो यों जानिये कि जितने भी श्रीहितरस के रसिक हैं उनके मन हरिवंश हित सों अलंकृत है । आभरण-भूषण, अलंकार आदि को कहै । हित की इस प्रेमावली में हरिवंश-मन; सुन्दर, श्रेष्ठ हंस हंसिनी के जोड़े की भाँति श्रीप्रिया-प्रियतम सों अलंकृत है। कहने को तात्पर्य यह है कि रसिक अन्यानि के मन में श्रीहरिवंश बसे हैं मनहितरस में ही कलोल करै है यथा श्रीसेवकजू महाराज सेवकवाणीजी के अष्टम प्रकरण में कह्यो, “श्रीहरिवंश गिरा रस सागर माँझ मगन्न सबै निधि पाई,” और श्रीहरिवंश के मन में रेई श्रीप्रिया-प्रीतम कलोल करत रहै, यथा “जै श्रीहित हरिवंश लाल-ललना मिलि हियौ सिरावत मोर ।” निकुंज में हिसखी है तो इन्ही लाल-ललना के रस मकरन्द सो अवलम्ब रहे है यथा, “द्रवत मकरंद हरिवंश अलि पाव ।” इति। श्रीहिताष्टक के प्रथम छन्द की व्याख्या की जै-जै श्रीहरिवंश ।

मूल :

रसिक हरिवंश रस लाडिली लाल बस,  
लसत बन अंग इक रंग रंगी ।  
श्रीराधिकावल्लभो वल्लरी प्राणधन,  
सुघन निरखत रहौ सुरत रंगी ।  
ललित सखी कुंज सुख पुंज वरषत युगल,

ललित मन एक तन चार गौरंगी ।  
रूप लावण्य अनुराग अंग माधुरी,  
केलि कल कलित तरलित तरंगी ॥२॥

व्याख्या:-

नित्यधाम श्रीवृन्दावन के रसिक श्रीललितादि सखियाँ समस्त परिकर तथा श्रीलाडिलीलाल श्रीहरिवंश रस के आधीन हैं अथवा यौं समझौं कि हितरस के आधीन हैं । श्रीप्रिया-प्रीतम तो हैं ही रसबस, रस ही केलि करवावत है, “नाइक तहाँ न नायिका रस करवावत केलि”; प्रसिद्ध है । या तौर श्रीसेवकजी कहैं, “आपने आप बस”; “रस विलसनि रस रंग”, ऐसे बहुत कह्यो हैं । सो ऐसे जो रसबस रस बिलसत हैं तो कहाँ बिलसत हैं ? कैसे बिलसत हैं ? तो कहैं, “लसत बन अंग इक रंग रंगी ॥” श्रीनित्य वृन्दावन में सुशोभित है, परस्पर गलबईयाँ दिये । रूप माधुरी को विलसत है, “अंसनि पर भुज दिये विलोकत इन्दुवदन विवि ओर”; अथवा बन बिहार कौ निकसै, “असं अंस बाहु टै किशोर जोर रूप राशी मनो तमाल अरुझ रही सरस कनक बेलि ।” जमुना पुलिन पै रास-विलास की रचना है, “नाचत नवल मिले स्वर गावत ।” “करत केलि कंठ मेलि बाहुदंड गंड-गंड परस सरस-रास-लास मंडली जुरी”; सिज्जा विहार, “सरस मणि नील मनो मृदुल कंचन खची” इत्यादि; इत्यादि चतुराशीजी में श्रीहितजू महाराज ने रस पान करवाये ।

अब इतनो और विचार करियों के दोनों के श्रीअंग परस्पर गलबईयाँ दिये बन में लसत हैं और जब लसत हैं तो दोनों “इक रंग रंगी” एक ही रंग में रंगे हैं योनि दोनों “हित रस” के अधीन हैं और दोनों में रस समतूल है । भर बिहार में सिज्जा समय रति विलास को वर्णन करत श्रीहित जू महाराज कहैं, “खंडन अधर करत परिभ्रम ऐंचत जघन-युकूल । उर नख पाँत, तिखी चितवनि, दंपति रस समतूल।” पद-३२

अथ श्रीनागरीदासजी महाराज कहैं कि ऐसे जो ये युगल इक रंग रंगे बन में लसत हैं, विहरत हैं, केलि-विलास करत हैं ये दोनों श्रीराधिकावल्लभो वल्लरी मेरे प्राण धन हैं । श्रीराधिकावल्लभो कहने से ही दोनों के प्राणधन होने की व्यञ्जना होती है परन्तु पूर्व जो कह्यो “लसत बन अंग” उसी को यहाँ बल्लरी कहि करि स्पष्ट कर दियौ है कि दोनों के श्रीअंग कैसे लसत हैं; “वल्लवी सुकनक वल्लरी, तमाल श्यास संग लागि रही अंग-अंग मनोभिरामिनी ।” ऐसे लसत हैं । सो ऐसे जो यह श्रीराधिकावल्लभ दोनों अंग में अंग समारे इक रंग रंगे बन में लत हैं वे मेरे प्राणधन हैं । फिर कहैं, “सुघन निरखत रहौ सुरत रंगी” । ये जो श्रीहरिवंश कौ सुघन हैं इन्हें ऐसे ही बन में लसत, सुरतरंग में इक रंग रंगे सदा निरखत रहौ । बड़ी मार्मिक पंक्ति है नेक ध्यान दीजियो । श्रीप्रिया-प्रीतम, श्रीराधिकावल्लभ श्रीहरिवंश कौ धन नहीं “सुघन” है । यह हित धन है कोई साधारण धन नहीं है और इस “हित-धन” के धनि श्रीहित यानि श्रीहरिवंश है । ‘सु’ ‘स’ उपसर्ग लगते ही धन शब्द साधारण अर्थ की सीमा से बाहर हो जाता है । यहाँ विचार का विषय ही श्रीहित, हितरस है सो अर्थ भी तदनुसार हित-धन अथवा रस-धन होगा क्योंकि हित ही रस है । धन कौ अर्थ पूर्व कियो “जीवन सर्वस्व” । दूसरे महत्वपूर्ण विचार करने योग्य वार्ता है, निरखत रहौ । “निरखूँ” नहीं कहा है “निरखत रहौ” कह्यो । सो यों समझियो कि श्रीहित नागरीदासजी महाराज को केलि-विलास लीला के निरंतर दर्शन होते हैं, हो रहे हैं । हिताष्टक कहते समय जो “निरखत रहौ” शब्द निकले तो यह तुर्यातीत स्थिति है, जहाँ प्रत्यक्ष लीला का साक्षात्कार है, जो अनुभव कियो, सोड कह्यो ।

ललित सखी कुंज सुख पुंज वरषत युगल ।  
ललित मन एक तन चार गौरंगी ॥

चिद्रूप श्रीनित्य वृन्दावन जो सहज में ही रसमय है उसकी सब कुंज, निकुंज निभृत निकुंज आदि ललित हैं । ललित यानि मनोहर है, मन को हरने वाली है, सुन्दर है । ऐसी सुंदर मनोहर कुंजों में श्रीप्रिया-प्रीतम हित सखी तथा अन्य सखियों के संग विहार करत हैं तो सुख पुंज की वर्षा होत है । श्रीसेवकवाणीजी में श्रीसेवकजू महाराज एकादश प्रकरण में कहै, “रहत सदा सखी संग, रास रंग रस रसाल उल्लासं । लीला ललित रसालं, समधुर तालं वर्षत सुख पुंज॥” सोई भाव सों उर धारण करनो । परन्तु नैक विचार करौ कि यह कैसो सुख पुंज है ॥ बस यौ जानियों हितरस मकरन्द है जिससे सगरो परिकर अवलम्ब रह्या । यथा श्रीजी की बानी; उभै संगम-सिंधु सुरत पूषण बंधु द्रवत मकरन्द हरिवंश अलि पावै”; तहाँ विचार करनो यहाँ व्याख्या संभव नहीं बहुत विस्तार बढ़त है ।

### “ललित मन एक तन चार गौरांगी”

यौ समझो कि श्रीसेवकजू, लालजू, सखियाँ तथा नित्य वृन्दावन ये चारों हित विलसन हेत एक मन मिले चलत हैं कहीं कोई विभिन्न संकल्प-विकल्प नहीं है । चारों की मनोवृत्तियाँ एक ही उद्देश्य को प्राप्त हैं, हित विलास । पूर्व तो कहि आये हैं कि “राधिका देह हरिवंश मन लाडिली लाल तन”; तहाँ विचार को विषै श्रीप्रिया-प्रीतम और श्रीहरिवंश रहे सोइ ध्यान रखियों; अब यहाँ चार की वार्ता है सो चारों के मन हित ही के गुणों सों संवलित है या वितरेक कछु और नहीं । श्रीप्रिया-प्रीतम तथा सखियों के मन एक हैं सो तो सहज में ही जानि परै है परन्तु श्रीवृन्दावन को भी मन है और वह मन मन भी औरों सौ मन मिले चलत हैं इसे धारण करने में कछु कठिनाई सी आवै है क्योंकि बुद्ध को; ‘वन’ सुनि करि जड़ता की ओर भागे हैं । सो सर्वप्रथम तो यौ जानियों कि नित्य धाम में सर्वत्र परम रसोमय स्थिति है लवलेश मात्र भी कहीं जड़ता नहीं है । श्रीध्रुवदासजी महाराज बयालिस लीला में कहै, “परम सत्त्वदानंद घन वृन्दाविपिन सुदेश ।” और फिर कहै, “वृन्दावन की लता, द्रुम, कुंज सबै चिद्रूप”, सो श्रीवृन्दावन को ऐसो विद्रूप स्वरूप है । रही बात एक मन मिले चलने की सोई शंका श्रीसेवकजू महाराज ने सेवकवाणीजी के चतुर्थ प्रकरण में निवारण कियौ, ‘पट न परसंत निकसंत वीथिन सघन प्रे विहवल सु नहीं देहमानी । मगन जित-जित चलत छिन सो डगमग मिलत पंथ बन देत अति हेत जानि ॥” सो श्रीवृन्दावन रसमय है श्रीप्रिया-प्रीतम को सुख देइबे वारो है । जैसी प्रिया-प्रियतम की रुचि होय यह वैसो ही रूप धारण करि लेत है । सों यहाँ तक तो रहा वार्ता ललित मन एक की । परन्तु संग में यह और जोड़ दियो “तन चार गौरांगी” । नेक विलक्षण वार्ता कहि गये हैं सो जानियों । कहने को तात्पर्य है कि इन चारों एक मन वालों के तन गौरांगी है यानि श्रीराधा गौर तेज को प्रतिबिंब जो इन सब पै पड़ै है ताहीं ते इन सब की अंग कान्ति झिलमिला रही है । सो देखिये प्यारेलाल के श्रीअंग की कान्ति, है तो सरोरुह जैसी, यथा श्रीहितजू पद ६१ में कहै, “कोमल कुटित अलक सुठि सोभित अवलंबित जुग गंडन । मानहुँ मधुप थकित रस लपंत नी-कमल के खंडन ॥” सो लालजी के कमलों की उपमा नीलकमल के दल सों जब कपोल नीलकमल के खंडन से है तो श्रीअंग की कांति भी नीलकमल सी है ; परन्तु दिखाई कैसी देत है ? जब श्रीप्रियाजू के श्रीअंग की कनक द्युति की सी कान्ति को प्रतिबिंब लालजी के नीलकमल से श्रीअंग परै तो “स्वर्णपीत” - नील की मिश्रित द्युति मर्कतमणि सी “हरित” दिखाई देत है; ये तो सदा गलबईयाँ दिये रहै । सोई श्रीहितजू महाराज ने श्रीहितचतुराशिजी के पदों में दर्सायो । यथा पद २६ में कहै, “तुम जु कंचन तनि लाल मरकत मनि उभै कलहंस हरिवंश बलि दासुरी ।” पुनः पद २८ में कहै, “लाल मर्कतमणि छबिलौ तुम जु कंचन गात” । सो ऐसे श्रीलालजू को श्रीअंग प्यारीजू ( गौरांगी ) की तन कांति सों झिलमिलात है । जब लालजी के तन की कांति गौरांगी की तन कांति सों झिलमिलात है तो सखियाँ जो श्रीप्रियाजू की अंग संगी हैं सदा संग रहै उनमें तो सहज ही श्रीकिशोरीजू के श्रीअंग की कांति की झलक रहैगी उनके गौर तेज सों प्रतिबिंबित गौरांगी झलक झलकायगो या में कहा आश्चर्य है ।



परम आराध्य श्री राधावल्लभलाल जी  
वृन्दावन

अब नेक विचार योग्य वार्ता श्रीवृन्दावन की है । सो नित्य वृन्दावन कौ “तन” क्या है ? अतनि, कुंज, निकुंज, द्रुम, लता, पत्र आदि । सो कैसे लसत है ? एक दोहा में श्रीध्रुवदाजी स्पष्ट कियौ, “नैक होत ठाड़ी कुंवरि जेहि फुलवारी माहि । पत्र फूल तहाँ के सबै पीत बरन हवै जाहि ॥” सो सगरी हेममय अवनी, कुंज, निकुंज द्रुम, लता श्रीकिशोरीजू की तन काँति सों प्रतिबिंबित लसत है, रसमय है, चिद्रूप है, गौरंगी है ॥इति॥

### रूप लावण्य अनुराग अंग माधुरी ।

श्रीकिशोरी जू के ‘रूप’ को ब्योरो देत नेक संकेत में श्रीसेवकजू महाराज ने सेवकवाणी जी के सप्तम प्रकरण में कह्यौ “ सहज रूप वृषभानुनादिनी । श्रीसेवकवाणी जी की व्याख्या भई है तहाँ देखनो । सारांश में इतनो समझनो कि जो सहज है वह आडम्बर रहित है प्रियाजू की रूप माधुरी छिन-छिन बरन पलटै है अनिर्वचनीय है । “जो कोऊ कोटि कल्प लागि जीवे, रसना कोटिक पावै तोऊ रुचिर वदनारविन्द की शोभा कहत न आवै” श्रीहितवतुराशिजी पर ५२ । जहाँ रूप है वहां लावण्य रहैगो ही, रही बात अनुराग और माधुरी की सो अनुराग की वार्ता तो अगली तुक में करेंगे यहाँ तो नैक माधुरी पै विचार विचार कर लें । श्रीहितजू महाराज पद ५२ में कहै, “ सहज माधुरी अंग अंग की कहि कासों पटतरिये ।” जब श्रीहितजू ही उपमा देकर समझाने में विवश है तो श्रीसेवक जी महाराज भला कैसे कछु कहि सकत हैं ये तो स्वयं ही श्रीराधिकावतार हैं, बड़ी सरलता से चुप्पी लगा गए, “सहज माधुरी अंग प्रति, सु मोपै कहत बनै न ।” सप्तम् प्रकरण । वैसे भी स्वयं अपनी ही रूप माधुरी को बखान कोई कैसे करे ?

सो ऐसी जो श्रीकिशोरी जू की अनिर्वचनीय रूप माधुरी, लावण्य, अंग माधुरी है उसको देखत बिलसत लाल अति विह्वल दशा को प्राप्त होत रहै विथकित होत जाय है । “अद्भुत छटा विलोकि अवनी पर विथकित वेपथ गात ” पद ६६ । कबहुँ तृपित होत नही, “श्रुति पर कंज दृगंजन कुचबिच मृगमद हवै न समात ।” पद ६० । सो जैसी रूप माधुरी आदि वैसौ ही अंग अंग प्रति अनुराग छलवयो परत है और रूप माधुरी कौ विजसम अनुराग के भर में जब सुन्दर केलि की रचना होत है तो ऐसो प्रतीत होय मानो “रस सागरी” के रस समुद्र में तरंगे तरलित होत हैं जो “कलित” यानि मधुर से भी मधुर है ॥इति॥

श्रीहित नेही नागरीदासजी महाराज कृत हिताष्टक के द्वितीय छंद की व्याख्या की जै-जै श्रीहरिवंश ।

मूल :

रसिक हरिवंश मन लाडिली लाल तन,  
ललित अनुराग वपु करनि लीने ।  
वाम भुज लाल दक्षिण भुजा लाडिली,  
ललित गति चलत मल्लकत प्रवीने ॥  
रसद वृन्दविपिन मोदमकरन्द सद,  
माधुरी प्याय पीवत नवीने ।  
युग युगल इक रंग चतुरंग पुलिनस्थली,  
यमुन कल कुंज रति-रंग भीने ॥३॥

व्याख्या :-

पूर्व द्वितीय छंद में कह्यौ रह्यौ, “ललित मन एक तन चार चौरंगी ।” अंतिम पंक्ति में केलि को संकेत कियो, “केलि कल कलित तरलित तरंगी ।” सो यहाँ इस छन्द में केलि तथा बन-विहार रसास्वादन की विधि पर दृष्टि जाय ठहरी । सो पूर्व जो कह्यौ, “मन एक तन चार गौरंगी” उसी को खोल के समझाये दियौ

है कि यह, “मन एक तन चार गौरंगी”, हरिवंश ही है कोई और दूसरे की सुख संपदा नहीं है; इनही की यह सुख संपदा है, येई इस रसधन के धनी हैं । सो रसिक यानि ललितादि सखियाँ, लाड़िली-लाल यानि युगल इनको मन और तन हरिवंश ही हैं । ह-हरि, र-राधा, व-वृन्दावन, स-सखी; ये चारों हरिवंश में ही समाये हैं, सो इनको मन और तन हरिवंश ही हैं । हरिवंश कहे श्रीहित कहे, अभेद है । यहाँ हरिवंश कहने से तात्पर्य हित स्वरूप से है अर्थात् इन चारों के मन और तन हितमय है अथवा हित रसमय है सोई अभेद दरसायो ।

प्रथम दो पंक्तियों में केवल लाड़िली-लाल कहाँ है , सखी और वृन्दावन को वर्णन नहीं है । सोई अर्थ संगति अंतिम दो कड़ियों में है जहाँ स्पष्ट हो जाणो, सो जानियों ।

सो ऐसे जो हरिवंश के तन-मन श्रीलाड़िली-लाल है वे रसिक-रखियों सहित वन-विहार को निकसै तो श्रीनागरीदासजी महाराज कहै, “ललित अनुराग वपु करनि लीने”; अर्थात् अति सुन्दर प्रेममय रस वपु, “करनि लीने” अर्थात् परस्पर बाहुदंड धरि निकसत है । “परस्पर बाहुदंड धरि” को आगे की तुक में खोल दियो है, कैसे कि प्यारेलाल को वाम भुज तो किशोरीजू के अंस पै रहै और किशोरीजू की दक्षिण भुजा प्यारेलाल के अंस पर रहै , ऐसे गलबईयाँ दिये वन विहार को निकसत है । यदि कछु आश्चर्य चकित हो रहे हो ध्यान से करना जिस दिन ये “युगल दर्शन” कौ सिंगार किये दर्शन देत है; मन में उठी किन्तु-परन्तु की आँधी शान्त हो जायेगी । सहज में श्रीप्रिया-प्रीतम के गलबईयाँ दिये स्वरूप में स्थित हो जाओगे । सो ऐसे जो गलबईयाँ दिये चलत है तो कैससी गति सों चलै ? “ललित गति” सों चलै है बहुत ही सुंदर गजराज करनि की सी “मल्हकत” -गर्व भरि चाल सो चलत है, अति प्रवीन है, सुघराई है । सहज है । श्रीहितजू के पद ४७ में नेक भावना विचार करै, “मनोमृनाल भूषण भूषित भुज श्याम अंस पर डारि । जै श्रीहित हरिवंश जुगल करिनि गज विहरत बन पिय-प्यारी ।” श्रीराधिकावतार श्रीसेवकजू महाराज ने सेवकवाणी जी के दशम् प्रकरण की द्वादश कुण्डली में नेक भाव कौ और विस्तार कियौ, सो कहै “वृन्दाविपिन बसंत परस्पर बाहुदंड धरि । चलत चरन गति मत करिनि गजराज गर्व भरि ॥” बस यौ जानिये श्रीसेवकजू महाराज को जो दर्शन भए सो कहत है, “मत करिनि गजराज गर्व भरि ।” और ऐसे ही दर्शन श्रीनागरीदासजी को हुए तो कहत है, “ललित गति चलत मल्हकत प्रवीने”, महापुरुषों का कहने का तरीका है, बात मूल में भिन्न नहीं है चाहे जैसे धारण करि लेव ।

**“रसद वृन्दाविपिन मोद मकरन्द सट,  
माधुरी प्याय पीवत नवीने ।”**

“ललित मन एक तन चार गौरंगी”, पूर्व कहाँ । तहाँ श्रीनित्यधाम वृन्दावन के स्वरूप को स्पष्ट खोल के नहीं कहि पाये रहे सोइ यहाँ विस्तार सों कहत भये है । वृन्दाविपिन कैसो है, रसद है यानि रसमय है चिद्रूप है । श्रीयुगल की केलि सों निरझरित मकरन्द को झेलत पान करै है और जैसी श्रीयुगल की इच्छा होय वैसो ही रूप धारण करि श्रीयुगल को बन माधुरी को पान करवाय उन्हें हरषित करि स्वयं हरषित होत है । इस मोद में सखियाँ भी सम्मिलित हैं सो जानियो वर्योकि सखियाँ तो अंग-संगी सदा युगल के संग ही रहै । यथा श्रीध्रुवदासजी महाराज कहै, “छिन-छिन बन की छवि नई नवल युगल के हेत । समझि बात सब जीय की सखि वृन्दा सुख देत ।” तहाँ भाव सों समझनो । सद कह्यो सो तुरन्त, शीघ्र अर्थ है । श्रीयुगल को सुख देइवे में कही कोई विलम्ब नहीं है, तुरन्त उनकी इच्छानुसार रूप धारण करि उन्हें सुख देत है । और कभी-कभी तो महाराज ऐसो संदर, विलक्षण रूप धारण करि लेत है कि नित्य विहार करने वाले श्रीप्रिया-प्रियतम को भी चकित करि देत है । श्रीसेवकजू महाराज सेवकवाणी जी के दशम प्रकरण की पंच द्वादश कुण्डली में कहै, “प्रिय वित्ति बन हरखि मन जिय जस बेनु कुन्त” तहाँ व्याख्या देखि भाव उर धारण करनो ।

**युग युगल इक रंग चतुरंग पुलिनस्थली ।  
यमुन कल कुंज रति रंग भीने ॥३॥**

“युग” - अनादि काल सों चतुरंग यानि चारों (श्रीश्यामा-श्याम, सखी वृन्दावन) इक रंग रंगे हैं । तहाँ श्रीयुगल सखियों सहित श्रीजमुनाजी के पुलिन पै सुन्दर कुंजों में रास-विलास आदि की रचना करत हैं । श्रीहितचतुराशीजी में अनेकों पद हैं जहां श्रीमहाप्रभुजी ने जमुना पुलिन पै रास-विलास आदि केलि को दरसायो है। यथा, “आज बन नीको रास बनायो । पुलिन पवित्र सुभग जमुना तट मोहन बेनु बजायौ ॥” पद ३६ “सुंदर पुलिन सुभग सुखदायक ” पद -६२; ऐसे बहुत पद हैं तहाँ भावना विचारिये । हौं एक बात समझने की है सोई लिखत हूँ । जमुना पुलिन पै केवल रास-विलास की व्यञ्जना रहै ऐसो नहीं है । रास-विलास, रति-विलास, नौका विहार, जल क्रीडा इत्यादि, श्रीयुगल की जिस समय जैसी इच्छा होय वेसे ही क्रीडत हैं सोई श्रीहित चतुराशीजी के पदों में विचार करने सों जानयों जाय है । यहाँ दूसरी पंक्ति मं रति-विलास कौ संकेत है । यमुनाजी पै स्थित सुंदर कुंज है उसी में रति विलास होत है; सोइ श्रीहितजू ने पद-६२ में दरसायौ, “निर्मित कुसुम शयन मधु पूरित भाजन कनक निकुंज विराजत । रजनी मुख सुख-राशि परस्पर,सुरत समर दोऊ दल साजत ॥” इत्यादि । जमुना पुलिन पै केलि-विलास कौ माधुर्य श्रीसेवकजू महाराज ने श्रीसेवकवाणीजी के दशम प्रकरण की चतुर्दश कुण्डली में उण्डेल्यो है; यथा “रससागर हरिवंश हित लसत सरित वर तीर” अंत की पंक्ति में कहै “नीरज सैन सु रचित वीर वर सुरत रंग रस ।” तहाँ इस कुण्डली की व्याख्या देखनो । विस्तार श्राय सों यहाँ पुनः व्याख्या संभव नहीं ।इति ।

श्रीहित नागरीदासजी महाराज कृत हिताष्टक के तृतीय छन्द की जै-जै श्रीहरिवंश ।

मूल :

**रसिक हरिवंश मन एक तन चार हौ,  
तौ वेणु वाणी विमल मोल लीनी ।  
बाँह छैट्टै छौंह करि छैट्टै पदरज सिरधरी,  
अंखियाँ छैट्टै छकी छवि रहौ अधीनी ॥  
अल्प पल ओट सत कल्प बीतत जिन्हे,  
दिव्य केशोर हृदि दृष्टि दीनी ।  
नागरी नवरंग निकुंज हित कल्पतरु,  
तीर छवि भीर भृगिनि नवीनी ॥४॥**

“ललित मन एक तन चार गौरंगी” पूर्व कह्यौ । याही को नेक खोल दियो है यहाँ । रसिक-सखियाँ श्रीयुगल वृन्दावन कहने को चार तन धारण किये दिखाई देत हैं परन्तु यह सगरी सुख संपदा हरिवंश में समाई हरिवंश की है । सो चारों एक मन मिले चलत हैं भले ही तन चार हों । यहाँ रसिक शब्द हरिवंश से पूर्व जो आयो है सो इन चारों के ताँई है । ये चारों ही हितरस के रसिक हैं हितरस ही गहै है हितरस ही बिलसै है । नेक डीनों अंतर इतनो ही हे कि श्रीप्रिया-प्रियतम “रसवपु-रसिक” है और बाकी ‘रसिक’ है, ‘रसवपु’ नहीं है सोई पूर्व प्रथम छन्द की व्याख्या करत कह्यौ ।

सों ऐसे जो ये चारो ‘हितरस’ बिलसत रस झेलत हैं तहाँ इनके नित्य विहार कौ रसास्वादन कहाँ पाइये? सोइ श्रीनागरीदास जी महाराज कहै, “हौं” यानि मैं तौ, “वेणु” यानि श्रीहरिवंश महाप्रभु जी की; विमल वाणी के आश्रित बिन मोल के बिवयौ हूँ; वही श्रीहितजू महाराज ने अपार कृपा करिकै निकुंज रस-रीति दरसाय दई है।



अक्षर-अक्षर रस कौ सागर है । यथा श्रीसेवक जू महाराज सेवकवाणी के अष्टम प्रकरण में कहै, “ श्रीहरिवंश गिरा रस-सागर मॉझ मगन्न सबै निधि पाई ।” सोई अवस्था को श्रीनागरीदासजी महाराज प्राप्त है । बड़ों के श्रीमुख से सुना है कि श्रीनागरीदासजी महाराज श्रीहितवतुराशीजी के कोई एक पद की बरसों भावना करते रहते फलस्वरूप उन्हे अपने पूरे जीवन में केवल ६ पदों का ही लीला-साक्षात्कार हुआ । यथा, “श्रीहरिवंश की बानी समुद्र कौ मीन भयौ जु अगाध कलोलता” सोइ प्रत्यक्ष करि दिखायौ ॥ वाणीजी में उनकी कैसी आस्था कितनो अनुराग है सोई आगे छटे छन्द में पुनः करेंगे, तहाँ नेक और विस्तार करेंगे ।

**“बाँह छैटै छाँह करि छैटै पदरज धरी ।  
अखियाँ छैटै छकी छवि रहौ अधीनी ॥**

सिद्धान्त रस की ये अद्वितीय पतियाँ है । निकुंज रसमाधुरी के प्राप्ती कौ साधन बोल के यदि कछु है तो वह साधन है हितरस के रसिक अनन्यनि की कृपा । इनकी कृपा से ही भली-भली सब होई, सोइ हितोपासना को अटल सिद्धान्त है, जिसे श्रीहितजू महाराज ने तथा श्रीसेवकजी महाराज ने अपनी-अपनी वाणी में पुष्ट कियौ । इसी सिद्धान्त कौ यहाँ साँगोपाँग पुष्टीकरण है । सो श्रीनेहीनागरीदास जी महाराज कहै कि श्रीयुगल, सखियाँ (यहाँ सखियों को एक इकाई माना है ) और वृन्दावन इन सबने मिलि करि अपनी अष्टभुजाओ को फैलाय अपने कर-कमलों की छाया जो मुझ पै करी है उसी छाया में विश्राम पायौ । कहने कौ तात्पर्य है इन चारों ने अपने-अपने कर कमलों को आशीर्वाद के रूप में जो मेरे सिर पै धरे उसी आशीर्वाद रूपी छाया में हियो सिरानों है , इनही की पदरज सिर धरी कृतार्थ भयो हूँ । इनही नेत्रों से इन चारों की छवि को निरखत हूँ इनही की निजदासी होय इनही के अधीन हूँ । श्रीसेवक जू महाराज श्रीसेवकवाणीजी के अष्टम प्रकरण में कहै, “मन क्रम वचन त्रिशुद्ध सकल मत हम श्रीहित हरिवंश उपासी”; अरु पुनः कहै, “अब जोइ कही करै हम सोई आयसु लियै चलै निजदासी ।” यही अधीनी है, जो जानियों ।

शब्दार्थ व्याख्या तो हो गई, परन्तु मेरे मन में नेक हलचल सी मच रही, सोचता हूँ विचार करि देखूँ तो ठीक रहै । “छकी छवि” कह्यो; छकी तो ठीक, परन्तु छवि कौन सी रूपधारी की छवि है अथवा नित्य वृन्दावन में सखियों सहित केलि विलास की छवि है । इन्ही नेत्रों से श्रीहितजू महाराज की सुख संपदा के दर्शन हो रहे हैं, अथवा लीला निरावरण “मानसी” में हृदय कमल में प्रकाशित है ?

रूप माधुरी और केलि दोनों ही हैं । क्योंकि जहाँ केलि दर्शन है वहाँ रूप माधुरी के दर्शन तो स्वतः सिद्ध है । केलि के दर्शन नहीं हो रहे होंगे । तो आगे की तुकों से संगति नहीं रहेगी जहाँ केलि की प्रत्यक्ष व्यञ्जना है । तुर्यातीत स्थिति में कह्यो गयो अष्टक है कोई साधारण अष्टक की रचना नहीं है । अष्ट भुजाओं के अष्ट कर-कमलों की छाया रूपी आशीर्वाद प्राप्त करि जो पदरज सिर धरि, सो सब मानसी में है । लीला निरावरण भी मानसी में है हृदय कमल में ही सब प्रकाशित होय जाय है, ऐसा मह्युपुरुषों का विद्वानों का विचार है, सोइ यहाँ ठीक जान परै है । “नरवाहन प्रभु निहार” ; का उदाहरण तो हमारे समक्ष है परन्तु यहाँ यह स्थिति नहीं है, सब कछु प्रत्यक्ष मानने से कही भी अन्य पंक्तियों से अर्थ संगति नहीं रहेगी ॥ इति ॥

**अल्प-पल ओट सतकल्प बीतत जिन्हे,  
द्विय कैशोर हृदि दृष्टि दीनी ।  
नागरी नवरंग निकुंज हित कल्पतरु ,  
तीर छवि भीर भृंगिनी नवीनी ॥४॥**



परम आराध्य श्री यथाबलभलाल जी  
वृन्दावन

पूर्व जो कहो "छकी छवि रहौ अधीनी" जहाँ श्रीनागरीदासजी महाराज "केलि" के दर्शन पाय छक रहे, सोई केलि कैसी है ताही कौ नेक संकेत इन चार पंक्तियों में कियौ है । जिन श्रीप्रिया-प्रीतम जब परस्पर रूप माधुरी बिलसै तो परस्पर हृदय की दृष्टि सों टकटकी लगी रहै । सोई दृष्टि एकरस है, त्रिषित चकोर की भाँति निहारत जहाँ है "लोचन त्रिषित चकोर"। श्रीधाम नित्य वृन्दावन में श्रीप्रिया-प्रीतम सदा किशोर अवस्था में ही रहै, "नवल किशोर-नवीन किशोरी" है । उसी नित नवल किशोर अवस्था को यहाँ "द्विय कैशोर" कहि करि संकेत कियौ है । श्रीहितजू महाराज पद ६० में कहै "लंपट लव निमेष अंतर तें अलप कल्प सत-सात" ; तहाँ भावना विचारिये । तथा "नवल श्याम-वृषभानु किशोरी", पद ५४ देखिये ।

रूप माधुरी की विलसन से आगे दृष्टि जब केलि में जाय अटकी सों उसी को संकेत करत कहै, "नागरी नवरंग निकुंज हित कल्पतरु"; नागरी जो श्रीप्रियाजू और नवरंग जो श्रीलालजू, तीर-जमुना पुलिन पै स्थित निकुंज तहाँ छवि सों केलि करत है । भीर-सखियों के समूह संग है जो केलि मकरन्द कौ पान करिबे को "भृंगिनि" भंतरियों की भाँति मंडराय रही है । यह निकुंज तो हित कल्पतरु है जहाँ हितरस ही श्रवत है सोइ हितरस मकरन्द सखियों कौ आहार है उसी से अवलम्ब रही, यथा, "प्रणयमय रसिक ललितादि लोचन वषक, पीवति मकरन्द सुख राशि अन्तर सती ।" इति ।

श्रीहित नेही नागरीदासजी कृत हिताष्टक के चतुर्थ छन्द की व्याख्या की जै-जै श्रीहरिवंश ॥

मूल :

रूप हृद लाडिली लाल लावण्य हृद,  
नेह हृद हरिवंश विपिन आसक्ति हृद ।  
वैसंधि इक वर्ण ऐन वर्ण बरनत बनै न,  
तरुण शैशव विभौ विलासै सौंदर्य सद ॥  
नैनामृत मंजरी मृदुल अलियाज युग,  
युगल इक रंग रंगे पुलिन कालिंद नद ।  
नागरी नवरंग निकुंज हित कल्पतरु,  
पत्र फल फूल सर्वांग गौरांग पद ॥५॥

व्याख्या :-

पूर्व कहो कि श्रीयुगल, सखी, वृन्दावन यह चारों श्रीहरिवंश महाप्रभु जी की सुख संपदा है । नित्य वृन्दावन में सर्वत्र रसोमय स्थिति है, सब रस के बस है; रस ही बिलसत है रस मकरन्द पान करत है, रस झेलत है । पूर्व कहो कि रस की विलसन दो प्रकार सों होय । एक तो जब श्रीप्रिया-प्रीतम परस्पर रूप माधुरी बिलसै तब और दूसरे जब ये केलि विलास में रत होय विशुद्ध प्रेम, नेह को विलसै; तब श्रीहित आस्वादित होय है ।

यथा श्रीहित वृन्दावन दासजी महाराज (वावाजी) कहै, "गौर श्याम कौ प्रेम इकोना बिरले रसिक जू चीन्है। रस पुनि रूप स्वादिनु वृन्दावन हित द्वै वपु कीन्है ॥"

सो रूप, लावण्य, नेह, आसक्ति इत्यादि ये सब श्रीहित के ही गुण हैं जो परम उज्ज्वल स्थिति में हर समय श्रीश्यामा-श्याम को सेवत है; क्योंकि श्यामा-श्याम तो है "हित रसवपु" और वृन्दावन सत्त्वदानंदघन चिद्रूप । सो सांराश में सौ समझौ कि श्रीप्रिया-प्रियतम की रूपमाधुरी, लावण्य, नेह परस्पर की आसक्ति ये सब अनिर्वचनीय है जो कछु भी श्रीहितवतुराशीजी में श्रीसेवकवाणी जी में तथा अन्य रसिकाचार्यों और महात्माओं

ने कहा है सो संकेत मात्र है, स्तीभर सोना देखि सुमेरु कौ ध्यान करिबे के तुल्य है ।

परन्तु यह “हिताष्टक” है । श्रीनेहीनागरीदासजी महाराज ने कृपा करि के “श्रीहितीरासोपासना” के मूल सिद्धान्तों कौ यहाँ निरूपण कियौ है जिससे उपासना सिद्धान्त को समझ करि शरणाश्रित उसे धारण करि भजन करि सकै, भटकै नहीं ।

सो श्रीहित नागरीदासजी महाराज सीधे-साधे शब्दों में कह रहे हैं कि श्रीहरिवंश महाप्रभुजी की सुख सम्पदा: रूप, लावण्य, नेह, आसक्ति की “हृद” है । श्रीप्रिया-प्रीतम की रूपमाधुरी, लावण्य, नेह आदि के बहुत पद श्रीहित चतुराशीजी एवं स्फुटवाणी जी में हैं जैसे, “ब्रज नव तरुनि कदंब मुकुटमणि श्यामा आजु बनी” पद २९ । “आवति श्रीवृषभानु दुलारी”; पद-४५ । “दान दैरी नवल किशोरी”; पद ५१; “देखो माई सुंदरता की सीवौ” पद-५२; “रुचिर राजति वधू कानन किशोरी” पद-६७। ऐसे ही श्रीलालजी की रूप माधुरी को संकेत पद ६१ में, “आजु सखी बन में जो बने प्रभु नाचज है ब्रजमंडल” पद-६०; “मोहन मदन त्रिभंगी” पद-६३; “लाल की रूप माधुरी नैननि निरखि नेक सखी” पद-२२ स्फुटवाणी । ऐसे ही सेवक जू महाराज ने श्रीसेवकवाणी जी के सप्तम प्रकरण में छन्द की रचना करि दरसायौ, “श्याम सुंदर उरसी बनमाल” तहाँ इन सब पदों में तथा श्रीसेवकवाणी जी के प्रकरणों में ध्यान सों विचार करनो, भावना करनो । यहाँ व्याख्या करनो संभव नहीं बहुत विस्तार बढ़त है ।

हाँ एक शब्द “आसक्ति” जो यहाँ कह्यो, इस पर कछुक विचार करूंगा क्योंकि यह शब्द श्रीप्रिया -प्रीतम के लिये तो निःसन्देह है ही, परन्तु यहाँ श्रीनागरीदासजी ने वृन्दाविपिन को विशेष रूप सों वर्णन कियौ है, यद्यपि पूर्व कहि आये हैं, “माधुरी प्याय पीवत नवीने ।

सो जहाँ श्रीप्रिया-प्रीतम की “आसक्ति” कौ विवेचन है, तहाँ ये दोनों ही एक दूसरे में आसक्त हैं, “अति आसक्त लाल लंपट, बस कीने बिनु मोलीनी”-पद ३४; अब इसी पद में किशोरी जू की आसक्ति कौ परिचय पाइये, “रति विपरीत चुंबन परिरंभन विबुक चारु टकटोलनि ।” भोरी प्रिया जू कैसी आसक्त हैं सो देखिये पद ४३ में, “जद्यपि मान समेत भामिनी, सुनि कहत रहति भली जिय भोरी ।” सखियों की आसक्ति कौ एक ठाँव परिचय श्रीसेवक जू महाराज ने सेवकवाणी के दशम प्रकरण में दियौ, “पंगु दृष्टि ललितादि तंक निरखति रंघनि करि।” कुण्डली-१६ । तथा कुण्डली संख्या १८ में कहै, “सरिता-तट सुर दुम निकट अलि ता सुमन सुवास । ललितादि रसननि बिबस वलि ता कुंज निवास ।” ऐसे ही श्रीहित जू महाराज ने श्रीहितचतुराशीजी के पद ६२ में परिचय दियौ, जै श्रीहित हरिवंश रसिक ललितादि लता भवन रंघनि अवलोकित । अनुपम सुख भर भरित बिबस असु आनंद बारि कंठ दृग येकत ।” हितरस ही चारों पर फिर जाय है, रस बस है; आसक्ति कोई निजी स्वार्थ अथवा कामनापूर्ति हेत नहीं है, रस बिलसन ही ने सबको एक दूसरे में आसक्त उनही की इच्छानुसार, उन्ही को सुख देईबे को नित नई छवि धारण करत है हर समय प्रिया-प्रियतम को देखि हरषित होत रहै, यथा श्रीकमलनैनजी महाराज कौ बसंत कौ पद “श्रीवृन्दावन पूजन बसंत । मनोरथ बैठे दंपति लसंत । इत धुजा पताका फरहरै । उत कदलि आदि ताहि अनुसरै ॥” इत्यादि । यह सब तत्सुखता के अंतर्गत ही आसक्ति कौ रूप है । जहाँ तत्सुखता होगी वही आसक्ति ठहरैगी । श्रीप्रिया-प्रीतम के मननि कौ कोइक सुख है तासों आसक्त ही सखियाँ, वृन्दावन अवलम्ब रहे । श्रीधुवदासजी महाराज सिद्धान्त विचार लीला (बयालीस लीला ग्रन्थ ) में कहै; “नित्य अखाण्डित एकरस, सहज निमित्य रहित महामाधुरी निकुञ्ज केलि अद्भुत रसिकानंद दोऊ बिलसत है । या पर न और रस न और सु, न और प्रेम । तहाँ कौ रस सार तामें सखी ललिता, विशाखादि आसक्त है ।” सो जैसी सखियों कर आसक्ति कौ स्वरूप है, वैसो ही श्रीनित्य वृन्दावन कौ है । वृन्दावन की आसक्ति कौ स्वरूप कैसो विवित्र है सों देखिये, “कोमल फूली लतन में करत केलि रस माँहि । तहाँ तहाँ की बल्ली सबै, सकुचि विवस हवै जाँहि ॥”-श्रीधुवदासीजी ॥ श्रीवृन्दावन की दुम बल्ली की यह विवशता ही आसक्ति है ।इति।

वैसंधि इक वर्ण ऐन वर्ण बरनत बनै न,  
तरुण शैशव विभौ विलसै सौदर्य सद ॥

बाल्यावास्था और यौवनावस्था की बीच की अवस्था को वैसंधि कहते हैं (सं० वयः संधि) अर्थात् किशोर अवस्था से तात्पर्य है । सो श्रीनागरीदासजी महाराज कहै कि ये दोनों श्रीश्याम-श्यामा जो किशोर हैं (तहाँ महापुरुषों ने ठौर-ठौर कह्यो है कि ये दोनों नित्य किशोर-किशोरी हैं ।) इनको इक वर्ण है । वर्ण कहिये गुण। अर्थात् इन दोनों नित्य किशोर-नित्य किशोरी के एक ही गुण है कही कोई घट-बढ़ नहीं है । दोनों में रस समतूल है । दोनों हित रसवपु हैं, दोनों निमित्य रहित रसमाधुरी, निकुंज केलि विलसत है । दोनों हित रसवपु हैं, दोनों निमित्य रहित रसमाधुरी, निकुंज केलि विलसत है । दोनों तत्सुख सुखी हैं । कहने को अभिप्राय है कि सब ठाँव समता है । और ऐसे जो इनके “ऐनवर्ण” यानि “गुणराशि” अथवा “गुणनिधि” हैं सों “बरनत बनै न”; वाणी अवरोध में आवै नहीं है ऐन; निधि अथवा राशि को कहै जैसे, “निरखत अंग अधिक रुचि उपजी नख-सिख सुंदरता कौ ऐन”। भला कौन की सामर्थ्य है जो इन नित्य किशोर-किशोरी के गुणन कौ बरनन करि सकै ? “बरनत हारै सरस्वती मो मति कहा विचारी ।” जरा नेक सेवकवाणीजी के प्रकरणों का ध्यान तो कीजिये; साक्षात् श्रीराधिकावतार श्रीसेवकजू महाराज ने ठौर-ठौर बरनत बनै न की झर लगा रखी है-प्रथम प्रकरण से ही आरम्भ करि दियौ, “हौ लघुमति जो अन्त नहीं लहौ”; सो बहुत कछु कहते चले गये हैं परन्तु अपनी वितृता भी जताते गये हैं, “सु मोपै कहत बनै न”-सप्तम प्रकरण, “नारि रसिक हृद बिन-विहार महिमा न परै कहि”-दशम प्रकरण इत्यादि । सो देखिये सौदर्य हो, रूपमाधुरी हो, रस-विलास हो, जब इन्हीं को वर्णन करनौ संभव नहीं तो जिन गुणों से ये सम्पन्न हैं जो सब गुण इन्हें मूर्तिमान होय सेवत हैं उन्हें कोई वया वरनन करैगो? विविध गुणन के साथ-साथ, कोक-कला आदि के गुण भी इस “ऐनवर्ण” के अन्तर्गत ही जानियें ।

सों ऐसे ये नित्य किशोर-नित्य किशोरी सब प्रकार के गुणों में सम, “इकवर्ण”, जिस गुण-राशि कौ वर्णन नहीं कियौ जाय सकै, “ऐन वर्ण” सब गुणों सों संतलित तरुण-शैशव विभौ यानि किशोर-अवस्था के ऐश्वर्य को “विलसै सौदर्य सद ॥” कहने को अभिप्राय है । कि किशोरावस्था कौ विभव जो सौदर्य, अर्थात् रूपमाधुरी परस्पर बिलसै हैं । कैसी रूपमाधुरी है ? तो कहै “सद” यानि “नवीन”। नवल किशोर-नवीन किशोरी कौ भाव है । ( ‘सद्’ शब्द के बहुत अर्थ हैं पूर्व ‘मोद मकरन्द सद’ की व्याख्या करते समय सद् कौ अर्थ कियौ रह्यौ तुरन्त, शीघ्र; परन्तु यहाँ “नवीन” अर्थ है । दोनों अर्थ कोश स्वीकृत हैं, सो जानियौ) यथा श्रीसेवकवाणी जी सप्तम प्रकरण” रस मुरति सूरति सरस, रस विलसनि रस रंग”-तहाँ भावना विचारनो ।

नैनामृत मंजरी मृदुल अलियाज युग,  
युगल इकरंग रंगे पुलिन कालिंद नद ।  
नागरी नवरंग निकुंज हित कल्परु,  
पत्रफल फूल सर्वांग गौरांग पद ॥१॥

“नैनामृत मंजरी”-प्यारी जू के नेत्रों से जग मृदुल हाव-भाव कटाक्ष की तरंगे, पलकौ कौ सहज उठनौ और ढरकनौ आदि होय तो यौ जानियो जैसे कोटि-कोटि मोती जैसे अमृत के कण बिखर गए हों । प्रिय जू के नेत्रों के कटाक्षानि को विवेचन असंभव है अनन्त भावों सों सम्पन्न है। महापुरुषों ने नाना प्रकार के संकेत मान हैं । श्रीहितजू महाराज ने ही श्रीहित चतुराशीजी में बहुत कह्यो है, “नैननि पर वारें कोटिक खंजन” पद-२२ “भृकुटि काम-कोदंड नैन सर कज्जल रेख अनी” पद-२९ । “राधा प्यारी तेरे नैन सलोल” पद-२३ । “कामिनि कुटि भृकुटि अवलोकति दिन प्रतिपद प्रतिकूल” पद-३०; “तब की कहा कहौ जब पिय प्रति चाहति भृकुटि

विलास"-पद ७३; "मानस-मृग बल बेघति भृकुटि धनुष दृग चाप"-पद ७७, "भृकुटि निर्जित मदन मंद रश्मित वदन" पद ६७, "खंजन, मीन, मृग मद मेटत कहा कहीं नैननि की बातें" -सम्पूर्ण पद ६३, "अभिनय कुटिल भृकुटियनि मटकति"-पद-७९, ऐसे बहुत कह्यो हैं । बयालीस लीला ग्रन्थ में तो श्रीधुवदासजी महाराज ने न जाने कितनी लीलाओं में श्रीप्यारीजू के नेत्रों के विभिन्न भावों को, कटाक्षानि को खोल के बताने की चेष्टा करि है, यथा "मदन रंग नैनन झनकान्यौ", "श्रवनाइत बाँके चपल घूँघट पट न समात । अवलोकत जेहि ओर कौ, छवि वरषा हवै जात ॥"

कहने को तात्पर्य है कि श्रीप्रिया जू के नैननि सों जो अमृत मंजरी की बर्षा होत है बाको पारावार नाही, अनन्त भाव दरसाइबे की क्षमता है इन नैननि में । सरसता, मृदुलता को पारावार नहीं और प्यारेलाल-"युग" यानि अनादिकाल सों "अलिराज" श्रेष्ठ भंवरे की वृत्ति सों या नैनामृत मंजरी को पान करत रहै पार पावै नहीं। प्रियजू की ने सी चितवन में ही विहवल हो जाय है, संभार रहै नहीं ।

ऐसे ये युगल परस्पर रूप माधुरी विलसत, एक दूसरे को चकोर की भाँति निरखत कबहुँ तृपित होयें नहीं, दोनों परस्पर "इक रंग रंगे"-समतूल, हितरस में एके जमुनाजी के पुलिन पै विहार करत हैं, हित बिलसत हैं । नागरी जो प्रियाजू नवरंग जो नवरंगीलाल जू हित कल्पतरु निकुंज में विलास करै हैं । ऐसे "हित कल्पतरु" निकुंज हैं जहाँ हितरस ही बहत रहै है, हित को ही साम्राज्य है और जहाँ के सर्व पत्र, फल, फूल, "गौरंग पद"; यानि गौरंग पदवी को प्राप्त है अर्थात् गौरंग जो श्रीप्रियाजू उन्हीं की रूप छटा सों सीचे हैं । इति।

श्रीनेहीनागरीदासजी कृत "हिताष्टक" के पंचम छंद की व्याख्या की जै जै श्रीहरिवंश ।

मूल :

युगल रस सिन्धु सेवै पुलिन रस सिंधु कों,  
नलिन हरिवंश आनन्द लहरी ।  
ललित वाणी विमल वार अरु पार नहीं,  
थाह कहूँ नाहिं अति निपट गहरी ॥  
अनन्यजन मीन आधीन हवै अनुसरै,  
प्रेम अंजन दिये दृष्टि ठहरी ।  
नागरी नवरंग निकुंज हित कल्पतरु,  
पलक पल ललक परी रूप दहरी ॥६॥

व्याख्या :

श्रीसेवकवाणी जी के सप्तम प्रकरण में श्रीसेवक जी महाराज श्रीकिशोरी जू के लिये तो कहै, "रस सीवां, रस सागरी"; और लालजू के तौँई कहै "रसनिधि सुविधि रसज्ञ", "रसरेख रीति-रस"; सो सारांश में यौ समझो कि ये दोनों ही "हितरस वपु" रस सिन्धु हैं और परस्पर इस रस सिन्धु को ही सम्पूर्ण नित्य वृन्दावन की व्यञ्जना है । हितरस की विलसन दो प्रकार सो है सो पूर्व कह्यो, सो जब रूप माधुर को विलसने लगे तो सेवकजू महाराज कहत है, "श्रीराधा आनन कमल हरि अलि नित सेवत । नव-नव रति हरिवंश हित वृन्दाविपिन बसंत ॥" फिर आगे चतुर्दश कुण्डली दशम् प्रकरण में विस्तार कियौ; "रस सागर हरिवंश हित लसत सरित वर तीर । जग जस विशद सु विरसरत बसंत जु कुंज कुटीर ॥" रूप माधुरी की विलसन में अनन्त भाव है सोई संकेतात्मक ढंग सों श्रीहित जू महाराज ने अपनी वाणी में दरसाये हैं; "अद्भुत छटा विलोकि अवनी पर विशकित वेपथु गात"-पद ६६ । ऐसे ही श्रीसेवकजू महाराज ने सेवकवाणी के दशम प्रकरण में कुण्डली १९

से २० में दरसायो जहाँ रूपमाधुरी विलास, नित्य विहार, रास-विलास, रति-विलास कौ सांगोपांग वर्णन हैं तहाँ भावना विचार करनौ; सेवकवाणी जी की व्याख्या जो करी है सोई देखनो । श्रीप्रिया के रूप समुद्र में जब भंवर परै तो लाल कैसे विवश भए रूप माधुरी झेलत हैं सो देखिये, “कुंवर प्रेम कौ सागर राजै । प्रिया प्रेम तहाँ भंवर विराजै । ज्यों सब जल फिरि-फिरि तहाँ परहीं । ऐसे लाल प्रिया दिस ढरही ॥”-श्रीधुवदासजी ॥

ऐसे ही जब रति विलास करै तो श्रीधुवदास जी महाराज कहै “रति विहार कौ रास दोऊ खेलत परम प्रवीन । कोक कला घातें सहज छिन-छिन उठत नवीन ॥” सो सारांश में यौ समझो कि हितरस विलास में कोटि-कोटि अनन्त भाव हैं जाकौ कोई पारावार नहीं है । रसिकाचार्यो को, महात्माओ को जैसों अनुभव भयौ, जितनौ अनुभव भयौ, रसिकों को सुख देइबे हेत, श्रीप्रिया-प्रीतम के हितरस विलास कौ जस गाइबे हेत उतनो ही लिपिबद्ध कियौ । परन्तु यह तो “हिताष्टक” है, नागरीदासजी महाराज “हितरस विलास” कौ सिद्धान्त बता रहे हैं, सो यहाँ हितरस विलास के भाव कौ विस्तार संभव नहीं, व्याख्या भी संभव नहीं क्योंकि बहुत विस्तार बद्ध है । निरुपण, सिद्धान्त की व्याख्या तक ही सीमित है ।

सो दूसरी पंक्ति में कहै, “नलिन हरिवंश आनन्द लहरी । रूपमाधुरी की विलासन, केलि विलास, रति विलास करत जब श्रीयुगल “फिर हेत कहाँ से बीच में आय परयौ ? हेत तो कछु नहीं है बस जिस हित को विलासै है वही ‘हित’ इन दोऊन के बीच “संधि” रूप विराजत है और विराजत भयो आस्वादित होत रहै । वह हित को रसास्वादन ही आनंदलहरी है और हित ही “नलिन हरिवंश” है । बस सहज में यौ समझौ, “सहज प्रेम के सिंधु में दोऊ करत कलोल । भरि भरि रस हुलसत हियौ, सुख की उठत अलोल ॥” श्रीधुवदासजी । नलिन कह्यौ-हरिवंश हृदय कमल रसास्वादन हितानन्द लहरी सों विकसित रहै; “द्रवत मकरंद हरिवंश अलि पावै ।” भाव सों जानियौ ॥

**“ललित वाणी विमल वार अरु पार नहीं,  
थाह कहूँ नाहि अति निपट गहरी ।”**

ऐसो जो यह “श्रीहित” कौ विलास है जहाँ श्रीहित स्वयं ही आस्वादित होत रहै, इसे रस-रीति कहै; अर्थात् जा रीति सों हित की विलासन होय, हित आस्वादित होय, सोई रीति हित रस-रीति अथवा रसरीति है । इसी “रस-रीति” को श्रीहरिवंश महाप्रभु जी ने अपनी वाणी श्रीराधासुधानिधि तथा श्रीहित चतुराशीजी में कह्यो, दरसायो । क्योंकि रस-रीति को जानने से ही रसिकजन ‘हित’ के स्वरूप को तनिक समझ सकेंगे । इस रस-रीति कोसमझैगो कौन ? जिस पै श्रीहरिवंश की कृपा है वह समझेगो, क्योंकि यह रस-रीति यह हित कौ विलास, अनन्त भाव सों सम्पन्न है, उज्जल है, प्राकृत जगत के स्थूल भाव की गन्ध भी नहीं है । तीन त्रिलोकी में कही ऐसी रस रीति नहीं है, निगम-आगम की मर्यादाओं को भंजि निसंक क्रीडत है । सो ऐसी रस-रीति जो वाणी जी में दरसाई वह ‘अनन्त’ की पदवी को प्राप्त है, सो श्रीहित महाप्रभु जी की ‘वाणी’ भी अनन्त की पदवी को प्राप्त है, निपट गहरी है, कही थाह नहीं अगाध है, एक-एक अक्षर-रस कौ आलय है, परम उज्जल है, ललित अरु विमल है श्रीप्रिया-प्रीतम कौ स्वरूप है; “रसद माधुर्य अति प्रेम-दानी”; है । कहाँ तक कहिये, “हौ लघुमति नहीं लहौ प्रमाना । जानत श्रीहरिवंश सुजाना ॥”

**अनन्यजन मीन आधीन हवै अनुसरै,  
प्रेम अंजन दिये दृष्टि ठहरी ।  
नागरी नवरंग निकुंज हित कल्पतरु,  
पलक पल ललक परी रूप दहरी ॥६॥**



परम आराध्य श्री राधावल्लभलाल जी  
वृन्दावन



बड़ि मारमिक पंक्तियाँ है । ऐसी अद्वितीय रस-रीति जो श्रीहितजू महाराज ने अपनी वाणीजी में दरसाई उसे कौन कृपा सों जानै, कौन विधि सों समझै ? सो कहै “अनन्यजन” ऐसे भक्त ऐसे शरणाश्रित जो “अनन्य” है, जिनके मन की चंचलता नष्ट हो चुकी; जो मन, क्रम, तव त्रिशुद्ध सकल मत हरिवंश उपासी है; जो, “हरिवंश प्रशंसत नित्य रहै । रस रीति विवर्धित कृत्य कहै”; जो धर्मी है जिनके कछु धर्म विरुद्ध नहीं है, जो हरिवंश महाप्रभुजी के आधीन हवै श्रीहितमहाप्रभुजी के चरणाविन्द उस धरी जो मीन की वृत्ति सों वाणी रूपी रस सागर में सदा ही पैरत रहै, वे ही इस वाणी कौ अनुसरण करि सकै । श्रीप्रिया-प्रीतम के प्रेम सौ अपने नेत्र आँज रखे है, उन्ही की “दृष्टि ठहरी”; उन्ही की दृष्टि, मनरूपी दृष्टि, इस वाणीजी में ठहरी है । ऐसे रसिक ही वाणी कौ रस कनुका पाय कै कलोलत रहै । श्रीहितवंश कृपा प्रसाद के फलस्वरूप, “निरखत नित्यबिहार पुलकित तन रोमावली, आनंद नैन सुद्धार”; ऐसी दशा को प्राप्त है ।

हित रस ही जहाँ बहत रहै श्रीहित कौ ही जहाँ सामराज्य है ऐसी हित कल्पतरु निकुंजनि में नागरी प्यारजू और नवरंग प्यारेलाल हित बिलसत है । श्रीवाणीजी इसी हित विलास की रस रीति कौ श्रवै है जहा अनन्यजन की मन रूपी दृष्टि ठहरी है । कैसी अद्भुत दृष्टि है यह; तो कहै, “पलक पल ललक परी रूप दहरी।” पलक कहिये नेत्र जो प्रेम के अंजन सो आँजे है ऐसे नेत्रों की दृष्टि में जो ललक है सो पल-पल बढ़त ही रहै कबहूँ तृपित होत नहीं । काहेत ? कै, “परी रूप दहरी ”; हित विलास रूपी दहर यानि हृद में दृष्टि” यानि आसक्ति वाणीजी रूपी हृद में जाय अटकी है, पल-पल ‘ललक’ बढ़ती रहै,, अपने को कबहूँ तृपित मानै नहीं ॥इति॥

श्रीनागरीदासजी कृत हिताष्टक के छठे छन्द की व्याख्या की जै जै श्रीहरिवंश ।

मूल :

रसिक हरिवंश वर विमल कल कल्पतरु,  
 प्रेम फल फलित अनुराग वाणी ।  
 केलि कल कलित अति ललित आमोदवन,  
 श्रवणपुट पिबत नवरंग रानी ।  
 रसिक मंडल विमल झूमिका झूमि रहे,  
 श्रीराधिकावल्लभ अनामदानी ।  
 परम हंस आधार रस सार धारा श्रवत,  
 भजन एकान्त लिन मन समानी ॥७॥

पूर्व तीन छन्दनि में कहौ “निकुंज हित कल्पतरु”; सो “हित कल्पतरु” कौन है उसी को यहाँ स्पष्ट खोल के मोहर लगा दी है । “रसिक हरिवंश-रसिकाचार्य रसावतार श्रीहरिवंश ही श्रीहित कल्पतरु है और यह “हित कल्पतरु” कैसो है तो सूत्ररूप सारांश में कहत है, “वर विमल कल कल्पतरु”; है । इस धरातल पर जो “हित” रसिकाचार्य हरिवंश रूप में प्रकट्यौ है, वही निकुंज में तत्त्वतः हित स्थाई रूप सों सदा विराजमान है। श्रीनागरीदास जी महाराज इसी हित को कल्पतरु कहै वयों यह हित ही सब निकुंज के रसिकों को सब कछु देने वारे है, इसी कल्पतरु की कृपा सों हितरस के ‘रसिक-रसवपु’ श्रीश्याम-श्याम है और बाकी सगरे परिकर को रसिक की पदवी है । सो हित स्वरूप श्रीहरिवंश हित कल्पतरु के लिये कहत भये वर-श्रेष्ठ, विमल-निर्मल (सकामता स्वार्थ रहित ) और कल, यानि मनोहर है ।

सो ऐसे जो हित कल्पतरु श्रीहरिवंश धरातल पर प्रगटे तो श्रीप्रिया-प्रीतम के प्रेम, हित-विलास रस-रीति

को अनुरागमई वाणी जी में प्रगट कियौ । प्रेम, हित-विलास, रस-रीति; हित कौ फल, अनुरागमई वाणीजी के रूप में फलित भयो ।

श्रीप्रिया-प्रीतम की मनोहर सुंदर केलि जो नित्य वृन्दावन में होय सोई हित विलसन अति ललित आमोदमई, सोई वाणीजी में कलित है अर्थात् वाणीजी में माधुर्य प्रगट है । रानी-श्रीप्रियाजू नवरंग श्रीलालजू श्रवण पुट करनो द्वारा वाणी जो रस श्रवै है, उसी कौ पान करै है श्रीसेवकजू महाराज चतुर्थ प्रकरण (सेवकवाणीजी) में कहै, “नाम बानी निकट श्यामा-श्याम प्रगट रहत निसिदनि परम प्रीति जानि । नाम बानी सुनत श्याम-श्यामा सुबस, रसद माधुर्य अति प्रेम-दानी ॥” सोई भाषा यहाँ पहिचानिये । श्याम-श्यामा श्रवणों द्वारा रस-पान करत है, क्यों? तो सेवकजू महाराज कहै “श्याम-श्यामा प्रगट-प्रगट अक्षर निकट प्रगट रस श्रवत अति मधुर बानी ॥” येई भाव जो सेवकजू महाराज ने सेवकवाणीजी में प्रगट किये उसी कौ इन पंक्तियों में पुष्टीकरण है-भाव को और खोल दियौ है श्रीनागरीदासजी महाराज ने ।

**रसिक मंडल विमल झूमिका झूमि रहै,  
श्रीराधिकावल्लभ अमानदानी ।  
परम हंस आधार रस सार धारा श्रवत,  
भजन एकान्त जिन मन समानी ॥**

श्रीप्रिया-प्रीतम के हित-विलास की रस-रीति जो वाणी जी में प्रगट है और जिस वाणीजी में रहसिकों की प्रेम अंजन दिये दृष्टि ठहरी है, उन्ही रसिकों के लिये कहत है कि वाणी समुद्र के मीन भए रसिक मंडल यानि समस्त रसिक परिकर विमल झूमिकस की भाँति वाणी अमृत कौ पान करि झूमिते रहते है क्योंकि श्रीराधावल्लभ यानि श्रीश्याम-श्याम कौ नित्य बिहार, हितविलास, जो निगम-आगम अगोचर है; जो शिव, इन्द्र, ब्रह्मादिकनि को अगम्य है; सोइ हित विलास की रस-रीति यहाँ वाणी जी में ‘अमानदानी’-यानि निशंक पाईयत है । अमान कहै जाकौ कोई प्रमाण नहीं, निरंकुश । श्रीसेवकजू महाराज सेवकवाणीजी के त्रयोदश प्रकरण में कहै, “श्रीहरिवंश की बानी समुद्र कौ मीन भयौ जु अगाध कलोलत” ; सोई भाव सों यहाँ परचौ पाइये ।

ऐसे रसिक मंडल रस मादक डोलत है । वाणी रसामृत पान करि झूमिका की भाँति झूमत रहत है, क्योंकि श्रीराधिकावल्लभ के हित-विलास, रस-रीति कौ निरुपण करने वाली इस वाणी जी कौ परम हंस आधार है अर्थात् परम उज्ज्वल रसामृत रस-सार की धारा वाणीजी श्रवत है । (हंस की उपमा उज्ज्वलता कौ प्रतीक है सो जानियों, जै श्रीहित हरिवंश हंस-हंसिनी स्यामल गौर, कहो कौन करै जल तरंगिनी न्यारै) परम उज्ज्वल कौन को कहिये ? जो विशुद्ध है जहाँ सकामता, स्वार्थ की गन्ध भी नहीं है, जो निमित्य रहित है, एकरस है, माधुर्य है, इत्यादि अपार विस्तार है कहाँ तक कहिये ।

सगरी वार्ता कहि करि अब गंभीर वार्ता कहै है कि ऐसी वाणी जो परम उज्ज्वल रस-सार धारा श्रवत है ऐसी वाणीजी को भजन कौन करै है अथवा कौन करि सकै है, कौन की सामर्थ्य है? तो डंके की चोट पर कहै कि, “भजन एकान्त जिन मन समानी ।” जिनको मन एकान्त में भजन करने में समायो है, अर्थात् जो एकान्त में भजन करै है, वाणीजी के पदों की भावना करै है, जो एकान्त प्रेमी है । बड़ी गंभीर वार्ता है । नेक ध्यान दीजियो-श्रीध्रुवदासजी महाराज बयालीसलीला रमें कहै, “ऐश्वर्यता, ज्ञान, महात्म, विषय या रस-माधुरी को आवरण है”; सो गोष्ठी तो ज्ञान मार्ग आदि में है जहाँ ऐश्वर्यता, महात्म्य, विधि-निषेध, व्रत संयम, कुल-कर्म, योग, ध्यान आदि की वार्ता जोर-शोर सों दिन-रात होत रहै । मन की चंचलता जब नष्ट हो जाय, जब मनोवृत्तियाँ प्रेमरस में थकै तब जानियौ कि अब कृपा भई अब श्रीहरिवंश कृपा सों भजन होयगो । सो ये सब

बिना एकान्त सेवन करे संभव नहीं । अपार कृपा होय तब मन की वृत्तियाँ एकान्त में नाम-वाणी में रमन करै, अन्यथा जीवन प्रपंच-बंध में व्यतीत होत रहै, “चारु गति छाँडि संसार भटकत भ्रमत आस की पासि नहीं तोरि जानि ।”-ऐसी दुर्दशा होत रहै ।

श्रीनेहीनागरीदासजी कृत हिताष्टक के सप्तम छन्द की व्याख्या की जै-जै श्रीहरिवंश ।

मूल :

रसिक रस सरस सर हंस हरिवंश जू,  
केलि मुक्ता चुगत मन नैन दीनै ।  
प्राणनि के प्राण मेरे प्राण जीवन सुघन,  
दृष्टि प्रति दृष्टि आलिंगन नवीने ॥  
सकल सुख धाम विश्राम वन विलसि हंसि,  
यमुन कल कूल अंग अरगजन भीने ।  
दिव्य आभरण वसन ललित अंग माधुरी,  
प्रेम पर्यक सुअंकनि में लीने ॥८॥

व्याख्या :-

श्रीप्रिया-श्रीप्रितम श्रीहरिवंश जू जो 'रसिक-रसवपु' जब हित बिलसै केलि-विलास करै तो स्वयं हित आस्वादित होत है अथवा यौ समझो कि श्रीहरिवंश जो हितस्वरूप है सोई आस्वादित होत है । सो श्रीहरिवंश जू जो 'रसिक-रसवपु' है येई “स्वरूप हित” यानि हितरस रूप है, इसी हितरस कौ प्रवाह नित्य वृन्दावन में है, रस-सर की भाँति । और जब श्रीप्रिया-प्रितम की रति-विलास की तरंगे इस सरस-सर में उठै तो ये श्रीहित यानि श्रीहरिवंश ही मन और नैनों सों केलि तरंगे का पान करि आस्वादित होत है । मन-नैन दीने कह्यै, सो जहाँ श्रीप्रिया-प्रितम को रूपमाधुरी कौ बिलसिबौ है ताकौ रसस्वादन नेन सों जानियों और जहाँ केलि है, रति-विलास आदि है तहाँ रसास्वादन मन सों जानियों । हंस हरिवंश जू कह्या सों हेस तो उज्ज्वलता कौ प्रतीक है सों पूर्व कह्यो और जब हंस की उपता दई तो केलि रसास्वादन भी “हंस” के “मुक्त चुगत” के समान उपमा है, सो जानियों ।

“प्राणनि के प्राण” -प्राणनि बहुवचन पद है। सों प्रिया-प्रितम तो एक प्राण दो देह है । प्राणनि कहिये में श्रीयुगल, सखी परिकर वृन्दावन ये जो श्रीहित की सुख संपदा है इन सब प्राणनि के प्राण श्रीहरिवंश है सोई प्राण श्रीहरिवंश मेरे प्राण जीवन सुघन है, श्रीनागरीदासजी महाराज कह्यै । सुघन कह्यो, सो कोई साधारण लेकिक धन तो है नहीं हित रस धन है सोई 'सु' उपसर्ग लगाकर व्यक्त कियौ ।

सो श्रीनागरीदासजू के ऐसे प्राण जीवन सुघन जो श्रीहरिवंश जू है वे ते श्रीनागरीदासजी महाराज के हृदय में बसे हैं । श्रीमहाप्रभु जी के श्रीचरण हर समय उर में धारण करते हैं सें श्रीहितजू महाराज की कृपा सों उनहीं की दृष्टि में इनकी दृष्टि मिल गई है या यौ समझो कि श्रीहितजू की कृपा सों इनकी दृष्टि भी वही केलि-विलास नित्य-विहार निरखत है जिस दृष्टि सों श्रीहरिवंश महाप्रभु जी “केलि मुक्ता चुगत हैं” आलिंगन नवीने-दृष्टि सों दृष्टि मिलि तो हित ने मिलाय कौ अपने में एक करि लियौ ये भी हित रूप हो गये । यही हित कौ आलिंगन है जो एकरस है, नित नवीन है । जब श्रीहित कृपा करै तो अपने में मिलाय कौ एक करि लै दो रहन देत नहीं, यही हित की टेक है । हित सिद्धान्त सब ठाँव खरौ है ।

सकल सुख धाम विश्राम वन विलसि हंसि,  
यमुन कल कूल अरगजन भीने ।  
द्विय आभरण वसन ललित अंग माधुरी,  
प्रेम पर्यक सुअंकनि में लीने ॥

इन चार पंक्तियों में श्रीनागरीदासजी महाराज अष्टक कौ उपसंहार करत हैं सो कहैं, कि सब सुखों के धाम यानि आश्रय श्रीयुगल हैं, इनही के श्रीवरणों में विश्राम है । तो ये युगल कहाँ रहत हैं तो कहैं 'वन'; श्रीवृन्दावन में रहत हैं, यमुनाजी के सुंदर तटों पे स्थित कुंजों में हित विलास कहि "हंसि" यानि प्रसन्न होत हैं, मुदित होत हैं । "भृकुटि विलास हास रस बरसत, जैश्रीहित हरिवंश प्रेमरस झूलहु"; भाव पहिचानिये । "अरगजन भीने", दोनों के श्रीअंग अरगजा से चर्चित भीने हैं । श्रीवनचन्द्र महाप्रभु जी कौ बसन्त कौ पद है, "सधे बन विनोद बसंत"; इसी पद में तुक है, "मलयसार सुगन्धि चंदन चर्चि युग वर अंग" तहाँ भावना विचारिये ।

दोनों श्रीप्रिया-प्रीतम द्विय आभरण सों सुशोभित हैं । कोई साधारण आभरण नहीं है, मृदुल मणियों से जटित हैं जिन की काँति अनिर्वचनीय है । इन मणियों का प्रतिबिम्ब जब श्रीयुगल के श्रीअंग पर परै तो अपार शोभा होत है । सगरे आभूषण, वसन विद्वरूप हैं सो जानियों । सुंदर झीने वसन हैं जिनमें श्रीअंग की माधुरी छलकी परत हैं । कोमल कमल दलनि की सिज्जा पर प्रेम विलसत हैं दोनों रति-विलास विषै योद्धा हैं, सुभ्रत हैं, जिन्हें देखि कोटि-कोटि मनसिज के गण लजावत हैं । प्यारेलाल श्रीप्रियाजू कों अंक में लीने हैं; श्रीहितजू महाराज पद ६६ में कहैं, "पिय के अंक निसंक तंक तन आलस जुत कृत सैन ।" श्रीसेवकजू महाराज सैन से सुरतांत पर पहुँचे तो कहा देखै, "मंग आदि रवि सिथिल सजत उच्छंग धरत हरि ।" कहाँ तक कहिये भावना सांगर को कहीं पारावार नहीं अनंत केलि विलास कौ पारावार नहीं । ये नवरंगी, त्रिभंगी जब देखो मौका देखि भोरी प्रियाजू को अंक में भरि लेत हैं, "जै श्रीहित हरिवंश लाल रस लपट धाड़ धरत उर बीच सकेली ।" सो भईया रसिक जहाँ तुम्हारों मन विश्राम पावै वही अटके भजन भावना जोड़ तोड़, अधिक अर्थ समझने-समझाने के चक्कर में पड़े तो फेर में पड़ जाओगे । मूल मंत्र को समझ कर उर धारण करणो । कहा ? कि यदि तुम हित धर्मी, धर्म में स्थित हो, रसिक अनन्य हो, श्रीहित हरिवंश आश्रित हो, यदि हित सिद्धान्त तुम्हारे आचरण में है, तो चिन्ता मत करो । श्रीहितजू महाराज तुम्हारे हर उस भव को जो सिद्धान्त पर खरो उतरै है, उसे पुष्ट करि तुम्हें सुख देंगे । तुम्हारे भावना के अनुसार ही लीला निरावरण कर देंगे क्योंकि सिद्धान्त पर खरी उतरने वाली प्रत्येक भावना इस अगाध अनन्त केलि सागर की एक तरंग मात्र है, इसी केलि रस-सागर में समाई है । परन्तु सावधान रहिये हरिवंश महाप्रभु जी उनकी भावनाओं कौ निर्वाह करै, "हरिवंश विचार परै जुरहै"; "हरिवंश परायण प्रेमभरे", "हरिवंश रसायन पीवत है ।" उन्ही के हैं, "कछू धरम विरुद्ध नहीं तिनकै"; जो एकरस हित धर्म में स्थित हैं । जरा सौ मन भट्क्यौ तो बस, "राई के सम चलत ही होत और की और ॥" इति॥

श्रीहितनेहीनागरीदासजी महाराज कृत "हिताष्टक" के अष्टक छन्द की व्याख्या की जै-जै श्रीहरिवंश ।

मेरे श्रीगुरुमहाराज, रसिकाचार्य श्रीहित राधेशलाल जी महाराज के सहज स्नेह, आशीर्वाद कौ प्रताप है जो श्रीजी ने व्याख्या करने की प्रेरणा दी, और व्याख्या करते समय मेरी भावनाओं कौ नियंत्रण कियौ । श्रीजी की कृपा कौ जो परचौ पायौ वह मेरे गुरु महाराज के आशीर्वाद कौ फल है । व्याख्या आरंभ करी बैसाख बदी एकादशी सं. २०१८ वि. सम्पूर्ण भई बैसाख पूर्णिमा सं. २०१८ वि. प्रकाशित भई हरियाली तीज सं. २०१८ वि. हिताब्द १२८ ।

यह व्याख्या श्रीहित धर्मियों, रसिक अनन्यानि को समर्पित है। जहाँ कहीं भी लेखनी मेरी अपनी बुद्धि से चली हो, उसके लिये रसिक अनन्य मुझे क्षमा करै । रसिक अनन्य मेरी घटती-बढ़ती सुधार लेंगे, ऐसों मेरे विश्वास है ।

जै-जै श्रीहरिवंश ।



श्री हित हरिवंश